सिद्धयोग

संस्थापक : योग योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष : 29 | नवम्बर 1996 | अंक : 8

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, सवांई, आगरा

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० रामलाल शर्मा

संयुक्त सम्पादक :
श्री भुवनेन्द्र झा

प्रबन्ध सम्पादक :
श्री चन्द्रशेखर 'दिव्य'

आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

श्री गोविन्द सोनी

ब्र० राजेश चन्द्र शर्मा

नवम्बर १९९६

इस अंक में पढ़िए

❀ एकस्त्वमेव जगदेतदमुष्य १
❀ कर्माशय और भोग (विशेष लेख) २
—योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज
❀ साधना सिद्धि का आधार मौन (सम्पादकीय) ४
❀ पतञ्जलि एवं चरक के अनुसार योग का स्वरूप ६
—डा० नरेन्द्र कुमार ब्रह्मचारी
❀ मन और माया ९
—श्री डा० विजयसिंह
❀ अहेतुकी कृपा—'सुहाग की रक्षा' १२
—श्रीमती सुमगला देवी
❀ भलाई का रास्ता १५
—श्री विष्णुप्रसाद व्यास
❀ कुन्जल-गजकरणी १८
—श्री राजेश शर्मा
❀ श्री सिद्ध गुफा की पावन-रज १९
—श्री अशोक द्विवेदी
❀ मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति २०
—पं० राजेन्द्र प्रसाद पाठक
❀ साधक को सिद्ध बनाना २३
—श्री रमाकान्त उर्फ कन्हैयालाल उपाध्याय
❀ श्री सद्गुरुदेवान् प्रति सविनयं समर्पणम् २६
—श्री द्वारका प्रसाद शर्मा
❀ मानव से —स्वामी श्री भोलेबाबा जी २८
❀ तन्त्र में मन —स्वामी सत्यानन्द सरस्वती ३०
❀ परतन्त्रता दुःखों की जननी है ३१
—श्री नारायणदत्त शास्त्री
❀ सुख प्राप्ति के साधन ३२
—श्री दिनेश कुलश्रेष्ठ

वार्षिक मूल्य ६० रु० । द्विवार्षिक मूल्य ११० रु० ।
इस अङ्क का मूल्य ६ रु० ।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष २९ अङ्क ८	ध्यायं ध्यायं यदिदं परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्योमृत्योर्मुखं न विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः। सत्त्वाप्त्यर्थं नित्य सहृदय विषयान योगशास्त्रोपदेशात्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः॥	नवम्बर १९९६

एकस्त्वमेव जगदेतदमुष्य

एकस्त्वमेव जगदेतदमुष्य यत् त्वमाद्यन्तयोः पृथगवस्यसि मध्यतश्च।
सृष्ट्वा गुणव्यतिकरं निजम ययेदं नानेव तैरवसितस्तदनुप्रविष्टः॥

अर्थात्

हे भगवन् ! यह सम्पूर्ण जगत् एकमात्र आप ही हैं, इसके आदि में आप ही कारण रूप से थे, अन्त में आप ही अवधि के रूप में रहेंगे और बीच में इसकी प्रतीति के रूप में भी केवल आप ही हैं। आप अपनी माया से गुणों के परिणामस्वरूप इस जगत की सृष्टि करके, इसमें पहले से विद्यमान रहने पर भी, प्रवेश की लीला रचते हैं और उन गुणों से युक्त होकर अनेक प्रतीत हो रहे हैं।

विशेष लेख :—

कर्माशय और भोग

योग-योगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

कर्माशय और भोग विषय से पूर्व मैं त्रिगुणात्मक दृश्य एवं उनसे होने वाले परिणामों का वर्णन कर चुका हूँ। जो मनुष्य इस संसार में जन्म लेकर रहता है वह दृश्य की त्रिगुण सत्ता से निकलना चाहते हुए भी नहीं निकल सकता। क्योंकि उस पर गुणात्मक प्रभाव बना ही रहता है और मन में जिस प्रकार का गुण प्रभाव होता है मनुष्य उस-उस प्रकार की हरकतें किया करता है और वही हरकतें कर्म का रूप धारण कर लेती हैं। कर्म हर हरकत को ही कहा जा सकता है। क्योंकि मनुष्य की हर चेष्टा में क्रिया होती रहती है और कर्म के साधारण लक्षणों में क्रियात्मक कर्म ही कर्म की परिभाषा है किन्तु यथार्थ में ऐसी कोई भी हरकत कर्म नहीं कहला सकती। कर्म की मीमांसा में श्री व्यास देव जी लिखते हैं—"कुशला कुशलानि कर्माणि" अर्थात् मनुष्य की हर चेष्टा जिसमें अच्छे-बुरे का सम्बन्ध जुड़ा रहता है वही ठीक प्रकार से कर्म की परिभाषा है और जिसमें कुशलाकुशल कर्म जमा होते रहें उसीको कर्माशय कहा जाता है।

"आशेरते फल पर्यन्तम्-इति कर्माशयः"

अर्थात् मनुष्य द्वारा की गयी कुशलाकुशल हरकतें फलभोग पर्यन्त जिसमें पड़ी रहें उस स्थान का नाम कर्माशय कहलाता है वह कर्माशय दो प्रकार का माना गया है।

(१) दृष्ट जन्म वेदनीय। (२) अदृष्ट जन्म वेदनीय।

क्लेश मूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्म वेदनीयः

उपरोक्त सूत्र पर व्यास भाष्य के अनुसार वर्णित व्याख्या का स्पष्ट भावार्थ निम्नांकित है—

साधक का यह कर्माशय क्लेश मूलक है। क्लेशों के आधार पर ही कर्माशय का आरम्भ होता है। भगवान पतञ्जलि देव ने—"अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशः क्लेशाः" यह सूत्र कहकर इन पांच प्रकार के क्लेशों का वर्णन किया है। इन क्लेशों से ही काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि की प्रवृत्ति बनती है। क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियां ही पुण्यापुण्यात्मक कर्माशय की आधारभूता हैं। यह हमारा क्लेश मूल कर्माशय दो भागों में विभक्त है। दृष्ट-जन्मवेदनीय कर्माशय एक सच्चे गवाह के रूप में सामने आ जाता है। इस पुण्यात्मक कर्माशय के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए जो व्यक्ति मन्त्रों का जाप करते हैं अर्थात् स्वाध्यायशील हैं और जो लोग तप करते हैं अथवा साधन आदि का अभ्यास करते हैं वे लोग ईश्वर, देवता, महान् महानुभावों का मान करते हैं। उसके फलस्वरूप उनके पुण्य-कर्माशय का परिपाक बहुत जल्दी हो जाता है और उसका फल सामने आ जाया करता है। आवश्यकता इस बात की है कि साधक ये सब कर्म तीव्र संवेग से करें। तभी वे तत्काल फलदायी हो सकते हैं।

इसी प्रकार जो प्राणी काम क्रोधादि से परिपूर्ण हैं उनकी वृत्तियाँ क्लिष्टा हैं तथा उन क्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह में पड़कर के पाप कर्मों में लगे रहते हैं वे लोग भयभीत, दुःखी एवं कृपण स्वभाव वाले और विश्वास में आये हुए महानुभावों एवं तपस्वियों का बार-बार अपकार करते रहते हैं। उनका भी पापकर्म युक्त कर्माशय इसी जन्म में फल का दाता हो जाया करता है। इस विषय में भगवान व्यासदेव ने दो उदाहरण बतलाये हैं। जैसे—नन्दीश्वर कुमार मनुष्य परिणाम को छोड़कर देवत्व में बदल गया और इसी प्रकार से क्लिष्ट कर्माशय वाला नहुष राजा देवेन्द्र से गिरकर तिर्यक योनि को प्राप्त हुआ किन्तु ये बात नारकीय प्राणियों पर लागू नहीं होती। "तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः"। क्योंकि नरक के लोग अपने कर्मभोग को ही भोगते हैं। अन्य कर्म वे कर ही नहीं सकते। इसीलिये उनका दृष्ट जन्म वेदनीय कर्माशय नहीं होता और जो लोग क्षीण क्लेश वाले हैं, पाप-पुण्य के झमेले से परे हो चुके हैं उनको अदृष्ट जन्म वेदनीय कर्माशय नहीं हुआ करता। इस बात की पुष्टि करते हुए भगवान पतञ्जलिदेव ने कहा है—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।

इस सूत्र पर व्यास भाष्य द्वारा व्याख्या निम्न प्रकार से है—

कर्मजाति चार प्रकार की मानी गई है जिसमें प्रथम पापकर्म, दूसरे पाप पुण्य मिले-जुले, तीसरे पुण्य के और चौथे पुण्य के न पाप के। यहाँ पर पापकर्म दुरात्माओं के होते हैं, पाप और पुण्य के मिले-जुले एवं केवल पुण्य-पुण्य के ये कर्म सांसारिक लोगों के हुआ करते हैं।

जिनके अन्दर पाप और पुण्य का मिश्रण नहीं होता ऐसे कर्म क्षीण क्लेश योगियों के हुआ करते हैं। इसलिए क्षीण क्लेश योगियों का पाप-पुण्य के फल का प्रदाता कर्माशय नहीं हुआ करता। जो साधक इतर अभ्यास में संलग्न रहते हैं वे अपने पाप-पुण्य के देने वाले कर्माशय को खत्म करके निष्काम कर्मयोगी बन जाया करते हैं और वे लोग किसी प्रकार किसी के भी बन्धन में नहीं रहा करते। इसलिए कर्मफलासक्त प्राणी संसार में पाप-पुण्य रूपी फल के देने वाले कर्माशय के उपभोक्ता बने रहते हैं। जो प्राणी पाप-पुण्य के झमेले से निकल कर लोक-संग्रह के लिए कर्म करते हैं वे निष्काम कर्मयोग के सिद्धान्त को समझकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अपने मुखारविन्द से स्पष्ट कहा है—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो, यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ (गीता ३/२५)

अर्थात्, पाप-पुण्य के फल के उपभोक्ता जिस प्रकार से कर्मफल में आसक्ति रखकर कर्म करते हैं इसी प्रकार विद्वान पुरुष को चाहिए कि वह कर्मफल की इच्छा को त्याग कर कर्म करता रहे। ऐसा करने से निश्चय ही साधक कर्म तथा बन्धन से छूट जायेगा।

सम्पादकीय—

साधना सिद्धि का आधार मौन

योग साधना में मौन का बहुत अधिक महत्त्व है। परमात्मा का दर्शन विशुद्ध अन्तःकरण में ही सम्भव है। और अन्तःकरण की यह विशुद्धता चित्त के समाहित होने पर ही आती है। चित्त को समाहित करने के लिए बहुत से उपाय एवम् आधार हैं जिनमें मौन का अपना विशिष्ठ स्थान एवम् महत्त्व है। वस्तुतः मौन साधना का रस है। समाधि एवम् आनन्द की परिभाषा है। आत्म-तत्त्व का अपना स्वभाव अथवा स्वरूप है। मौन के स्वरूप-गत कई भेद शास्त्रों में विवेचित हैं। ये भेद क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने की प्रक्रिया एवम् दशायें हैं। योग वाशिष्ठ में मौन के चार भेद बताये गये हैं। जो वाङ्मौन, अक्षमौन, काष्ठमौन एवम् सौषुप्त नाम से कहे गये हैं। वाङ्मौन वाणी का मौन है इसमें साधक वाणी से बोलता नहीं है किन्तु अपने भावों को व्यक्त करने के लिये लेखनादि का अथवा संकेतों का अवलम्ब लेता है। इस प्रकार के वाङ्मौन-व्रत धारण करने वाले अभ्यासी साधक काफी संख्या में पाये जाते हैं। दूसरे प्रकार का मौन अक्षमौन है। इस अवस्था में चक्षु आदि बाह्य करणों से भी कोई संकेत आदि नहीं किये जाते। ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों सहित समस्त शरीर के अङ्गों को निश्चेष्ठ रखना काष्ठमौन कहलाता है। जिस प्रकार से कोई ठूंठ खड़ा हो उसी प्रकार से साधक निश्चल स्थित रहा करता है। चौथे प्रकार का मौन सौषुप्त मौन है समाधि के द्वारा जब जगत के नानात्व का भ्रम तोड़ दिया है तथा जिसके समस्त संशय नष्ट होकर मन एवं प्राण की स्थिरता हो गई है। ऐसी स्थिति में पहुँचे योगी की दशा को सौषुप्त मौन कहा जाता है। जितने प्रकार के मौन के बाह्य प्रकार हैं वे सब इस स्थिति की प्राप्ति के लिये ही है। योग की परिभाषा के अनुसार चित्त वृत्तियों का निरोध ही योग कहा जाता है। सौषुप्त मौन भी प्रकारान्तर से वृत्ति निरोध की ही स्थिति है। इसी से योगी स्थितप्रज्ञता को प्राप्त हो जाता है। योगदर्शन के सिद्धान्तानुसार प्रकृति एवम् पुरुष का संयोग ही सृष्टि का कारण है। यहीं से द्वैत भासता है। द्वैत को लांघकर अद्वैत को प्राप्त होना ही योग का परम लक्ष्य है। द्वैतावस्था ही दुःख एवम् चञ्चलता का जनक है किन्तु अद्वैत की स्थिति कूटस्थता एवम् चिरमौन की अवस्था है।

साधना की प्रारम्भिक अवस्था में साधक वाङ्मौन का ही अवलम्ब लेता है। प्रारम्भिक साधना की अभिवृद्धि एवम् संरक्षण में यही परम सहायक है। ब्रह्माकार वृत्ति

बनाये रखने के लिये मौन ही परमोपाय है। बोलने से संचित ऊर्जा समाप्त होती है। जप एवम् ध्यान के अभ्यास से जो प्रकाश शक्ति अथवा ऊर्जा उत्पन्न होती है उसका प्रभाव वाणी पर भी विशेष रूप से आता है। उपनिषद् में कहा गया है अन्न का सूक्ष्म भाग मन बनता है जल का सूक्ष्म भाग प्राण बनता है तथा तेज वाणी को बलिष्ठ बनाता है। इसीलिये व्यवहार में भी कहा जाता है कि तपस्वी ब्राह्मण एवं योगी के मुख में विशिष्ट अग्नि रहती है इसी से वर एवं शाप घटित होती है। वर एवं शाप से इस ऊर्जा अथवा तेज को संरक्षित रखने के लिये ही साधक को विविक्त सेवन (एकान्त) का आदेश भगवान ने गीता में दिया है। अधिक बोलने से असत्य भाषण एवं व्यर्थ का वाग्जाल बोला जाना स्वाभाविक है। गीता में भगवान ने 'मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्' अर्थात् गुप्त रखने वाली वस्तुओं में भी मौन हूँ—ऐसा कहकर मौन के वैशिष्ट्य एवं महत्ता को प्रदर्शित किया है। मौन रहने से मन्त्र जप स्वतः ही चलता रहता है। अध्यात्म मार्ग के पथिक को अपने अनुभवों को जन सामान्य में प्रकट नहीं करना चाहिये इससे बहुत हानि की सम्भावनायें रहती हैं। गीता के बारहवें अध्याय में भी भगवान ने अपने प्रिय भक्तों के सद्गुणों को दर्शाते हुए बताया है कि वह निन्दा-स्तुति में तुल्य रहे तथा मौनी रहे। वाङ्मौन के अभ्यास बढ़ जाने पर आत्मिक शक्ति के बढ़ जाने पर योगी को अपने भाव को व्यक्त करने के लिये इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रहती वह अपने मन की शक्ति से ही दूसरे के संशयों का नाश करने में समर्थ होता है। सिद्ध गुरु के विषय में कहा भी जाता है—

गुरोस्तु मौनम् व्याख्यानम् शिष्यास्तु छिन्न संशयाः।

अर्थात् सिद्ध-गुरु मौन रहकर ही व्याख्यान करते हैं और शिष्यों के संशय दूर होते चले जाते हैं। उपनिषद् में कई स्थलों पर मौन को यम-नियम के अन्तर्गत माना गया है। अतः योग मार्ग के पथिक को मौन का अवलम्ब लेकर अपने को आत्म-दर्शन का अधिकारी बना लेना चाहिये। यही योग का परम लक्ष्य है।

इस संसार में दो प्रकार के मनुष्य ही सूर्य मण्डल को भेदकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं—एक तो परब्रह्म में आत्मा को स्थित करने वाला योगी और दूसरा वह वीर-पुरुष जो सम्मुख युद्ध करता हुआ प्राण त्यागता है। —महाभारत

पतंजलि एवं चरक के अनुसार योग का स्वरूप

□ डा० नरेश कुमार ब्रह्मचारी, पी-एचडी०, एन० डी०, डि-लिट
अध्यक्ष—पाताञ्जलि योग समाज, दिल्ली
सहायक निदेशक—विश्वायतन योगाश्रम, नई दिल्ली

पतञ्जलि के अनुसार चित्त की वृत्तियों के रोकने को योग कहते हैं। योग-दर्शन के अनुसार चित्त की निरोद्धव्य वृत्तियां पांच हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। अतः इनके निरोध में यह तात्पर्य हुआ कि चित्त को इतना वशवर्ती और अवृत्तिक बना लेना कि योगी के संकल्प-मात्र से चित्त अवृत्तिक एवम् निर्विषय हो जाए अर्थात् न तो चित्त में पांचों ज्ञानेन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषयों का ही ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से प्रकट हो न कोई बाहरी शब्द सुनाई दे, न रूप दिखाई दे, न स्पर्शानुभूति हो, न गन्ध आए और न ही जिह्वा किसी रस का अनुभव करे, न चित्त किसी प्रकार के तर्क-वितर्क या विकल्पादि के जञ्जाल में फंसे और न ही पूर्व प्रत्यक्ष किए हुए किसी आप्त पुरुष से सुने हुए अथवा अनुभव किये हुए ज्ञान की स्मृति हो न निन्द्रा आवे—किन्तु जागते हुए पुरुष का चित्त बाह्य जगत् और इसके विषय से सम्बन्ध छोड़कर तथा अपने स्मृत्यादि पांच वृत्तियों के सतत् प्रवाहमान व्यापार को छोड़कर निस्तरंग समुद्र की भांति निश्चेष्ट और निस्तरंग हो जाए तो चित्त के द्रष्टा-पुरुष की उस समय क्या स्थिति होगी। तथा स्वयं चित्त की वृत्तियां यदि बाहर के जगत से हटा ली जायेंगी तो उनकी स्थिति कहां और किस प्रकार होगी। प्रस्तुत शंकाओं के उत्तर में इतना ज्ञातव्य है कि चित्त की वृत्तियां वस्तुतः कभी भी पूर्णतः नहीं रुकती हैं। जिस प्रकार कछुआ जब अपने हाथ पैर मुखादि अङ्गों को बाहर से खींच लेता है तो बाहर विद्यमान न होने पर भी उन अङ्गों का अभाव नहीं होता प्रत्युत् वे अङ्ग बाहर से विमुख होकर अन्तर्मुख मात्र हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार से जब चित्त की वृत्तियों को बाह्य विषयों से रोका जाता है तो या तो चित्त पूर्व प्रत्यक्ष हुए विषयों के स्मरणजन्य विचार-व्यापार में या अनुमान-जन्य या आप्त पुरुषों से सुने हुए ज्ञान व्यापार में निमग्न हो जाता है। यदि इन विषयों से भी चित्त को रोकने का सफल यत्न किया जाता है तो चित्तस्थित उस संघर्ष को विराम देती हुई निद्रा उपस्थित होकर चित्त पर अधिकार कर लेती है। किन्तु, निद्रा भी अन्य वृत्तियों की भांति चित्त की एक वृत्ति है। चित्त-वृत्ति निरोध के प्रौढ़ानुभवी कृताभ्यास योगी-जन यदि निद्रावृत्ति को भी सिर नहीं उठाने देते तो चित्त की क्या स्थिति होती है। ऐसी जिज्ञासा उठने पर यही स्वीकार करना पड़ता है कि चित्त का सम्बन्ध दो वस्तुओं से है—इन्द्रियों से तथा अपने स्वामी आत्मा से। जब चित्त इन्द्रियों से सम्बद्ध रहता है तो इन्द्रियों के माध्यम से तत्सम्बद्ध इन्द्रिय-विषयों से उपरक्त होकर उनका उपभोग अपने स्वामी

आत्मा को कराता रहता है। किन्तु, यदि स्वामी पुरुष विषयों के उपभोग से उपराम हो जाए और चित्त को इन्द्रियों के विषयों में जाने का आदेश न दे तो चित्त बाह्य इन्द्रिय विषयों से सम्पर्क विच्छेद कर नये ज्ञानों को उत्पन्न करना तो बन्द कर देता है पर अपनी स्मृति-वृत्ति का आश्रय लेकर प्रगाढ़ अन्धकार में चला जाता है। पर यदि उसका स्वामी पुरुष उसे इस स्मृति अथवा निद्राजन्य वृत्ति व्यापार की भी अनुमति न दे तो चित्त समस्त वृत्तियों को रोककर, पूर्णतया अन्तर्मुख होकर अपने द्रष्टा स्वामी के स्वरूप में स्थिर हो जाता है—अपने स्वामी के स्वरूप में स्थित हुआ चित्त स्वामी को स्वरूप दर्शन रूप विवेक ख्याति प्राप्ति करा स्वयं को कृतकृत्य जानकर अपने कारण में विलीन हो जाता है—चित्त के अपने कारण में विलीन होने पर द्रष्टा आत्मा की पूर्णावस्थिति अपने ही स्वरूप में हो जाती है। यह द्रष्टा का कैवल्य अथवा मोक्ष प्राप्ति है। चित्तवृत्ति निरोध तथा आत्मा के कैवल्य की यही अवस्था योगाचार्यों का अभिमत है। किन्तु इसका इतना स्पष्ट उपदेश योग के किसी भी वृत्तिकार या भाष्यकार ने नहीं किया जितना कि आचार्य चरक ने किया जिसमें पतञ्जलि कृत योग की परिभाषा से लेशमात्र भी अन्तर नहीं है। पातञ्जलिकृत यौगिक परिभाषा की प्रक्रियात्मक व्याख्या अवश्य है। चरक ने योग का लक्षण करते हुए लिखा है—

योग का चरकोक्त लक्षण—आत्मा, मन, इन्द्रिय और विषय—इन चारों के संयोग से सुख-दुःख प्रवृत्त होता है। भाव यह है कि आत्मा के संयोग से मन चेतनवत् हुआ, आत्मा की इच्छा से विभिन्न इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में लगाता है—उस इन्द्रिय विषयोपभोग से सुख और दुःख उत्पन्न होते हैं किन्तु योगाभ्यास की सिद्धि के फलस्वरूप जब मन आत्मा में स्थिर भाव से अवस्थित हो जाता है तो किसी कार्य के न होने से सुख और दुःख निवृत्त हो जाते हैं तो स्थूल शरीर धारण किए हुए भी वह पुरुष वशी हो जाता है। योग के जानने वाले ऋषि उसे योग कहते हैं। अर्थात् चित्त की वृत्ति का विषयों से निरोध करके उन्हें चित्त के स्वामी द्रष्टा के स्वरूप में लगाने का नाम योग है।

इन वृत्तियों के निरोध से द्रष्टा पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है तथा योगी जीवन्मुक्त हो जाता है। उस समय चित्त के अविद्यादि क्लेशों से रहित तथा स्वच्छ हो जाने पर देह रहते हुए भी सुख दुःखादि वेदना नहीं होती। इसे सदेह मुक्ति या जीवन्मुक्ति कहते हैं। जब शरीर का भी त्याग हो जाता है तो विदेह-मुक्ति मोक्ष, अपवर्ग अथवा कैवल्य की प्राप्ति होती है। वैशेषिक दर्शन में भी योग का लक्षण चरकोक्त योग लक्षण से पूर्णतः मिलता-जुलता है क्योंकि वैशेषिक में भी 'आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे। तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः स योगः'' अर्थात् आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा इन्द्रियविषय—इन चारों का संयोग होने पर सुख-दुःख होते हैं। इन चारों का संयोग होने

पर (मन के आत्मा में स्थित हो जाने से) शरीर के दुःख का अभाव हो जाना योग कहलाता है। योग की सिद्धि हो जाने पर समाधि लाभ होता है। भाष्यकार व्यास ने तो (योगस्समाधिः व्या० भा० १/१) कहकर योग को समाधि का ही पर्यायवाचक माना है। ऐसा मानने पर समाधि ही योग ठहरती है। योगसूत्रों में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि —इन आठों को योग का अङ्ग माना है। जिनमें भी पहले पाँच अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार तो योग के बाहर के अङ्ग तथा धारणा, ध्यान और समाधि —ये तीन योग के अन्तरङ्ग कहलाते हैं (यो० सू० ३/७) ये तीनों अन्तरङ्ग वस्तु एक ही क्रिया की तर तम अवस्था के परिपाक से तीन पृथक नाम हैं। योग सूत्रों के अनुसार चित्त का वृत्ति मात्र से एक स्थान विशेष अथवा विषय विशेष के साथ बाँध देना धारणा है। धारणा में जिस विषय के साथ चित्त को लगाया गया है, चित्त की ज्ञानात्मवृत्ति के पूरे प्रवाह का निरन्तर उसी विषय की ओर बहते रहना तथा किसी विषयान्तर से बाधित न होना ध्यान कहलाता है। वही ध्यान जब कालान्तर में परिपक्व हो जाता है तथा उसमें इतनी एकाग्रता आ जाती है कि ध्याता को न तो अपने देह, काल, दिशा और बैठने के स्थान का बोध रहता है और न ही ध्यान की क्रिया का स्मरण रहता है प्रत्युत जिस विषय में चित्त को लगाया हो —वही विषय निर्विकल्प अथवा सविकल्प रूप से भासित होने लगे तो इस स्थिति का नाम समाधि है। धारणा की परिपक्वावस्था का नाम ध्यान है और ध्यान की चरम परिपक्वावस्था का नाम समाधि है। ये तीनों एक ही विषय या देश में की जाती है। धारणा से संयुक्त ध्यान और ध्यान से संयुक्त समाधि जब तक ही विषय पर की जाती है तब उस अवस्था का यौगिक पारिभाषिक नाम संयम है। शरीर में विभिन्न ध्यान करने के देश हैं—जहाँ संयम के विनियोग से विलक्षण ज्ञान, सामर्थ्य तथा दिव्य अनुभव योगीजनों को प्राप्त होते हैं जिन्हें सिद्धि, विभूति अथवा ऐश्वर्य कहकर अभिहित किया जाता है। योग दर्शन के चार पादों में एक सम्पूर्ण पाद विभूतिपाद है जिसमें योग से प्राप्त होने वाली नाना ऋद्धियों सिद्धियों तथा विभूतियों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है जिसका दिग्दर्शन यहाँ करना हम विस्तार भय से तथा ग्रन्थ के विषय की दृष्टि से असंगत समझते हैं। अतः यहाँ तो केवल उतनी मात्र ही तुलनात्मक चर्चा प्रस्तुत करनी है जितनी कि योग-दर्शन के साथ-साथ चरक सुश्रुतादि संहिताओं में भी पाई जाती है। महर्षि चरक ने योगियों के आठ प्रकार के वैभव की ओर संकेत करते हुए लिखा है, जो निम्नलिखित है—

१. अपने चित्त को दूसरे के शरीर में प्रविष्ट करना।
२. सब ज्ञेय विषयों का ज्ञान।
३. कर्म करने की अबाध शक्ति।
४. दिव्य दृष्टि।
५. दिव्य श्रवण शक्ति।
६. दिव्य स्मरण शक्ति।
७ दिव्य शरीर कान्ति।
८. अन्तर्धान होने की शक्ति।

अब क्रमशः उपर्युक्त आठ ऐश्वर्यों पर पातञ्जलि योग की दृष्टि से तुलनात्मक विचार प्रस्तुत है—

(शेष पृष्ठ २४ पर)

★ मन और माया ★

⁂ डा० विजय सिंह

सद्गुरु से शक्तिपातित होकर भी साधकों की अन्तरभूमियाँ क्यों भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं। यह प्रश्न कई बार मन में उठता रहा है। अन्तःकरण के परिष्करण का भेद ही इस प्रश्न का समीचीन समाधान है। श्री गुरुदेव भगवान कहते थे पूर्व जन्मों में किया गया साधना व्यर्थ नहीं जाता उसका प्रभाव भावी जन्मों पर पड़ता ही पड़ता है। साधक का मन कैसा है? किस प्रकार के संकल्पों-विकल्पों में उलझा रहता है। इस बात पर ही साधनानुभूति की गहराई निर्भर करती है। पुरातन आख्यानों से भी स्पष्ट होता है कि निश्छल मन में, सत्य-संकल्पी मन में सहज ही ब्रह्म तत्व का बोध होता है। कठोपनिषद् का नचिकेता पिता के पाखण्ड-पूर्ण दान से आहत हो जब उनसे बार-बार कहता है—जा तुम्हें यम को देता हूं। यम के तमाम दिए प्रलोभनों को ठुकराता हुआ बालक नचिकेता-ब्रह्म विद्या, आत्म तत्व ज्ञान, मृत्यु क्या है? जैसे मौलिक प्रश्नों का समाधान चाहता है।

यमराज ने ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हुए बहुत ही स्पष्ट रूप से कहा है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मान-
मैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

अर्थात् परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है। इसीसे जीव बाह्य विषयों को देखता है, आत्मा को नहीं। कोई धीर पुरुष जिसने अपनी इन्द्रियों के वासनात्मक वेग को रोक लिया है वही प्रत्यगात्मा को देख पाता है।

इन्द्रिय जनित तमाम जागतिक वासनाओं का संघात मन पर पड़ता रहता है। मन उन संघातों से संकल्प-विकल्पों में घिर उठता है। यह संकल्प-विकल्प ही व्यष्टिगत माया है। माया अविद्या है। संघातहीन संकल्पों-विकल्पों से शून्य मन की अवस्था ही आत्म-बोध की अवस्था बन जाती है। बहुत से दर्शनकारों ने माया को मिथ्या व भ्रम की अवस्था बताया है। थोड़ा समझने जैसी बात है। हमारी बहिर्मुखी इन्द्रियों पर पञ्च-महाभूत एवम् उनकी तन्मात्राओं का पड़ने वाला संघात जो सामूहिक अथवा ऐकिक रूप में मन को चलायमान किये रहता है, यही प्रपञ्च बोध है। इन संघातों से मुक्त मन ब्रह्म बोध से उद्भासित हो उठता है। यह कार्य कुछ ऐसा ही है जैसा प्रकाश के न रहने पर अपने आप अन्धकार का हो जाना। प्रकाश विधेयक तत्व है इसका निषेध अन्धकार है। अन्धकार स्वयं में कुछ होते हुए भी नहीं है। क्योंकि प्रकाश की क्षीणता तथा उत्तरोत्तर ह्रास ही अन्धकार को जन्म देता

है। ठीक इसी प्रकार मन की निरुद्धता (ऐन्द्रिक संघातों से मुक्त) ब्रह्म बोध को दर्शाता है परन्तु मन के चलायमान होते ही ब्रह्म बोध क्षीण होते हुए जागतिक बोध को प्रगाढ़ कर देता है। यमराज नचिकेता से कहते हैं—

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥

अर्थात्—नचिकेता, आत्म तत्त्व मन से ही प्राप्त करने योग्य है, इस ब्रह्म तत्त्व में नाना कुछ भी नहीं है। जो इसमें नानात्व देखते हैं वह मृत्यु से मृत्यु को जाता है।

कैसी खरी बात बताई गई है। मन से ही ब्रह्म तत्त्व का बोध होना है। परिणाम नानात्व का तिरोधान होना। एक तत्त्व आत्मा का प्रकाशित होना। नानात्व रूप माया के अन्धकार का तत्काल तिरोधान। अगर ऐसा नहीं है अभी नानात्व का बोध स्थूल अथवा सूक्ष्म या कारण में हो रहा है तो मृत्यु अवश्यम्भावी है और फिर जन्म भी। चक्कर चलते रहना है तब तक जब तक मन पूर्ण निरोध में आत्म-लीन नहीं हो जाता।

परमकरुणार्णव सद्गुरु भगवान हम सभी को बराबर प्रकाशार्जन करते रहने को प्रोत्साहित करते रहते थे। उठते-बैठते, चलते-फिरते मन्त्र जाप। अनन्यभावेन सद्गुरु चरण चिन्तन। ध्यान तत्परायणता। यह सब मन को सत् से भर देने का साधन है। सत्-तत्त्व प्रकाश है। इसी का अत्यान्तिक अभाव माया है।

जागतिक पाठशाला का मुँह भी नहीं देखा हुआ परन्तु आन्तरिक जगत् का सम्राट अक्खड़ सन्त कबीर ने बड़ी बेलाग वाणी में मन और माया का बोध कराया है। वे कहते हैं—

मन माया तो एक है,
माया मनहि समाय।
तीन लोक संशय पड़ा,
काहि कहूं समझाय ॥

मन का बहि विकास ही माया है। मन का विकारों से संयुक्त अवस्था का ही नाम माया है। सीधे सोचें तो मन की असंगत दशा ही माया है। माया नष्ट करना नहीं पड़ता। मन को संसार से विरक्त करने से कबीर कहते हैं यह माया संयत मन होते ही मन में ही खो जाता है। बहिर्मुखता ज्यों-ज्यों घटती है साधक का मन स्थिर होता है, और माया भी उतनी ही मात्रा में विलुप्त होता जाता है। ऋतम्भरा, प्रज्ञा अथवा विवेकख्याति की ओर बढ़ते ही मन का संगत-भाव जाग्रत होकर माया को अपने में ही समेट लेता है। बिल्कुल वैसे ही जैसे घने अन्धकार से युक्त कमरे में बल्ब जलते ही अन्धकार का अस्तित्व नहीं रह जाता। अतः सन्त कबीर कहते हैं सारा संसार माया के और ब्रह्म के निरूपण में नये-नये दर्शन गढ़ रहा है। बड़े ही संशय में पड़ा है किसको-किसको समझाऊं कोई द्वैत वाद, कोई विशिष्टा द्वैत तो कोई एकेश्वर वाद आदि-आदि के पचड़े में पड़ा है। माया है या नहीं, ब्रह्म है या नहीं। इन प्रश्नों पर बड़े गूढ़ चिन्तन-मन्थन चल रहे हैं। परन्तु कबीर का आँखन देखा आत्मानुभव कहता है, मन के अन्दर विवेक जागने पर यह माया मन में ही समा जाता है। मन दो नहीं हैं। मन का तरंगित, डोलायमान होना ही माया है। जब मन थिर होगा तो माया तिरोहित हो जायगा। इसलिए परम

प्रभु सदैव अपने बालकों को दैवी सम्पदा के विकास हेतु साधन रत रहने का उपदेश करते थे।

मन का एक छोर माया का विस्तार है तो दूसरा छोर ब्रह्म आत्म बोध में जाकर समाप्त हो रहा है। हमें मन को ध्यान, समाधि द्वारा इस छोर का गहनतम बोध प्राप्त करना ही अभीष्ट है। इसीलिये बड़े बेबाक ढंग से कबीर कहते हैं—

मन सागर मनसा लहरि,
बूड़ें बहुत अचेत।
कहहिं कबीर ते बाँचि हैं,
जिनके हृदय विवेक॥

मन की उपमा शान्त सागर से ब्रह्म के रूप में कबीर दे रहे हैं और माया उत्ताल लहरों से संयुक्त सागर जो मानसाकार लहरों के रूप में ही अभी पहचाना जा रहा है माया है। कबीर का कथन है विवेक की आँख से ही यह जाना जा सकता है। यह विवेक रूपी आँख मात्र सद्गुरु कृपा से ही साधक को प्राप्त होती है।

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः।

कबीर एक बात और मर्म की बतलाते हैं—

जो मन राखै जतन करि,
तो आपै करता सोई।

अर्थात्—मन को जो उसकी स्वस्थ स्थिति में पहुंचा लेता है अर्थात् हिंसित अवस्था से मोड़कर सिद्ध उन्मनी अवस्था को पहुंचाता है वही ईश्वर हो जाता है।

अतः निष्कर्ष: मन ही माया और मन ही ब्रह्म है। मन ही एक छोर पर संघात् पीड़ित हो माया का बोध कराता है। वही मन शान्त होकर समाधि में, आत्मा में विसर्जित हो उठता है।

सन्त कबीर की वाणी साधक को सावधान करती है। यदि साधक हो तो सन्तों के लेखन को छोड़कर मन की क्रिया को पढ़ो, निरखो। जिन्हें पूर्ण गुरुदेव मिल गये हैं, जिन्हें अन्तर्बोध होने लगा है, उसे सावधान रहना है—

गुरु मानुष करि जानते,
ते नरि कहिए अन्ध।
महा दुःखी संसार में,
आगे जम के बन्ध॥

सन्त कबीर कहते हैं अरे तुम्हें जिसने अन्तर्मन का बोध कराया है वह मनुष्य कैसे हो सकता है। सद्गुरु स्वयं ब्रह्म है अतः उनके अनुशासन में रहकर जीवन-मरण के चक्र को सुलझा लेना चाहिए नहीं तो यमराज का दण्ड तो साथ लगा ही है। जैसा नचिकेता को उपदेश करते हुए स्वयं गुरु रूप यम कहते हैं—जिसने मन को समझकर धीरपूर्वक आत्मदर्शन रूप एकत्व का बोध कर लिया वही हमारे पाश से मुक्त हो जाता है। अस्तु! उन परम कल्याणमय श्री प्रभुजी के अमृत वचनों एवम् आदेशों का मन में स्मरण करते हुए हम सभी को नित्य स्तुति में करते उठकर श्रेय की ओर बढ़ने हो जाना है। वे परम कृपालु हमें शक्ति सामर्थ्य प्रदान करते ही हैं।

अहैतुकी कृपा—'सुहाग की रक्षा'

श्रीमती सुमंगला देवी (वाराणसी)

अकारण दयालु, प्राणीमात्र के भाग्य-विधाता, सिद्धों के सिद्ध, हमारे और आपके दादा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज तथा योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज के कमलवत चरणों में साष्टांग प्रणाम करने के बाद उन्हीं के चरणों में घटित एक घटना को क्रमबद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है। यह घटना श्री जयनारायण बाबू से सम्बन्धित है, जो कि उड़ीसा राज्य के सम्बलपुर जिले के निवासी हैं। श्री सिद्धयोग के सुयोग्य पाठकों से सविनय निवेदन है कि इस लेख की त्रुटियों को लेखक की गलती मानते हुए क्षमा प्रदान करने की कृपा करें।

घटना क्रम सन् १९८० के पूर्व का है। उस समय श्री जे० एन० बाबू दुर्गापुर स्टील प्लाण्ट में कार्यरत थे एवं दुर्गापुर में होने वाले श्री प्रभु जी के योग प्रचार कार्यक्रम में सपत्नीक भाग लेकर श्री प्रभुजी की अमोघ वाणी द्वारा योग के चरित्रों को प्रेमपूर्वक सुना करते थे। ये दोनों पति-पत्नी धार्मिक प्रवृत्ति के थे। इनकी पत्नी एक पतिव्रता भारतीय स्त्री है। इन दोनों पति-पत्नी की दीक्षा सन् १९८० में हुई थी। दीक्षा के एक वर्ष पश्चात् श्री जे० एन० बाबू के शरीर में खून का विकार आरम्भ हो गया एवं दवा करने पर रोग घटने की बजाय बढ़ता ही गया। अन्ततः इनके दाहिने पैर में असह्य पीड़ा होने लगी। इस रोग को जब इन्होंने वहाँ के विशेषज्ञों को बताया, तब जाँच करने के पश्चात् पता चला कि इनके दाहिने पैर का पूरा खून अन्दर ही अन्दर जम गया है, तथा खून में विष का प्रभाव हो गया है। यदि इसका समुचित इलाज नहीं कराया गया तो विष पूरे शरीर में फैल जायेगा और इस कारण इनकी जान को भी खतरा हो सकता है। यह जानकर इन्होंने अपने पैर का इलाज दुर्गापुर शहर में कराया परन्तु कोई विशेष लाभ नहीं हुआ एवम् इनका रोग हमेशा थोड़ा बहुत बना रहा। रोग के शुरूआत के लगभग तीन वर्ष पश्चात् रोग का दुबारा प्रकोप बड़े ही भयानक रूप से हुआ। रोग की भयंकरता को देखते हुए श्री जे० एन० बाबू नौकरी से छुट्टी लेकर अपने गृह राज्य उड़ीसा आ गये एवम् वहाँ के मेडिकल कालेज में अपना इलाज करवाने लगे। वहाँ के विशेषज्ञों के अनुसार विष का प्रभाव दाहिने पैर में पूरा व्याप्त होकर अब शरीर के और अन्य स्थानों पर प्रारम्भ हो गया था। अतः डाक्टरों ने श्री जे० एन० बाबू की धर्मपत्नी श्रीमती रुक्मिणी देवी जी को सलाह दी कि यदि इनका दाहिना पैर काटकर शरीर से अलग नहीं किया गया तो विष का प्रभाव पूरे शरीर में व्याप्त हो जायेगा, तब श्री जे० एन० बाबू की जान को खतरा हो सकता है। पति का पैर काटने की बात सुनकर श्रीमती रुक्मिणी देवी को बहुत दुःख हुआ परन्तु इन्होंने प्रभुजी का निरन्तर ध्यान करते

हुए अपने हितैषियों से इस विषय में विचार-विमर्श जारी रखा।

अन्ततः सब हितैषियों ने मिलकर यह तय किया कि श्री जे० एन० बाबू का दाहिना पैर काटकर अलग कर दिया जाय, जिससे उनकी जान को कोई खतरा न हो सके। जिस समय यह बात चल रही थी उस समय श्री जे० एन० बाबू एवम् उनकी पत्नी ने श्री प्रभु कृपा से सम्बन्धित अनेक विचित्र एवं अलौकिक चरित्रों को देखा। श्री प्रभुजी ने उन्हें स्थूल रूप में भी अनेक आशीर्वाद दिये एवम् कहा कि—लल्ला ! तुम ठीक हो जाओगे एवं तुम्हारे सभी परिचित तुम्हारी अच्छी प्रकार से सहायता करेंगे। हमारे उपरोक्त गुरुभाई को आराध्य देव की यह बात सुनकर बड़ा आश्चर्य लग रहा था कि मैं तो अच्छा-भला हूँ फिर प्रभुजी ऐसा आशीर्वाद क्यों दे रहे हैं। उसी समय उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रुक्मिणी देवी ने यह स्पष्ट स्वप्न देखा कि जैसे गुरुदेव उनसे कह रहे है—लल्ली ! घबराओ मत। यह ठीक हो जायेगा।

इस घटना के कुछ दिन पश्चात् श्री जे० एन० बाबू का रोग अचानक बढ़ गया एवं तब जे० एन० बाबू ने भी अपने पैर को कटवाने का निश्चय कर मेडीकल कालेज में भर्ती हो गये। श्रीमती रुक्मिणी देवी की हालत तो और भी दयनीय हो गई थी क्योंकि हितैषियों के सहयोग के बावजूद भी पति का जीवन-मृत्यु से सम्बन्धित आपरेशन होना था। इसका क्या असर होगा यह तो उस समय श्रीमती रुक्मिणी देवी ही जानती होंगी या वह जानते होंगे, जो इस प्रकार के घटनाचक्र से गुजर चुके होंगे। आपरेशन वाले दिन जब श्रीमती रुक्मिणी देवी अस्पताल गयी तो अपने साथ श्री प्रभुजी का स्वरूप भी लेती गयीं। उस समय वे लगातार श्री प्रभुजी द्वारा प्रदत्त गुरुमन्त्र का जाप कर रहीं थीं। जिस समय उनके पतिदेव श्री जे० एन० बाबू का पैर काटने के लिए उन्हें आपरेशन थियेटर में ले जा रहे थे, उस समय श्रीमती रुक्मिणी देवी ने कुछ डाक्टरों को बात करते हुए सुना कि देखें इस रोगी का क्या होता है। डाक्टरों की बातचीत सुनकर श्रीमती रुक्मिणी देवी उदास एवं निराश हो गयी एवं इन्होंने श्री प्रभुजी के स्वरूप को हृदय से लगाकर पूरी श्रद्धा एवं लगन के साथ अपने गुरुमन्त्र का जाप करने लगीं। इस समय इनकी आँखों से अविरल अश्रु प्रवाह हो रहा था।

उनके पतिदेव का आपरेशन सफलता-पूर्वक हो गया और वे सकुशल अपने स्थान पर वापस लौट आये, परन्तु इसके पश्चात् भी श्रीमती रुक्मिणी देवी श्री प्रभुजी के स्वरूप को हृदय से लगाये लगातार मन्त्र जप कर रही थीं। इसी समय रात को करीब एक बजे उन्होंने देखा कि श्री प्रभुजी इनके समक्ष प्रकट हो गये एवम् स्वयं अपने कर-कमलों द्वारा श्रीमती रुक्मिणी देवी की माँग में सिन्दूर लगाते हुए आशीर्वाद दिया कि लल्ली ! सौभाग्यवती भव। अर्थात् सौभाग्य-वती होओ। श्री प्रभुजी के मुखारविन्दु से यह सुनकर इनका शरीर रोमांचित हो गया। यह पूछने पर कि श्री प्रभुजी आपको स्वप्न में दिखाई दिये या ध्यान में। तब इन्होंने बतलाया कि श्री प्रभुजी न तो मुझे स्वप्न में दिखलाई दिये और न ही ध्यान में। वे तो साक्षात् स्थूल रूप में हमें दिखलाई दिये। उनका शरीर उनका हाथ एवं वह सिन्दूर हमें साफ दिखलाई दे रहा था। जिस समय श्रीमती रुक्मिणी देवी यह दृश्य देख रही थीं उस समय उनके पतिदेव श्री जे० एन० बाबू

बेहोशी की हालत में श्री प्रभुजी का विलक्षण अनुभव कर रहे थे। होश में आने के बाद श्री जयनारायण बाबू के मन में विचार आया कि अब तो हमारा एक पैर कट गया है, अब हमारी लड़की की शादी कैसे होगी। श्री जयनारायण बाबू की दो लड़कियां हैं कोई पुत्र नहीं है। पहली लड़की की शादी तो वे इस दुर्घटना से पूर्व ही कर चुके थे परन्तु दूसरी लड़की की शादी के लिए वे चारपाई पर पड़े-पड़े ही श्री प्रभुजी का स्मरण कर रहे थे। उसी समय उनके एक रिश्तेदार इनसे मिलने के लिए अस्पताल में आये। थोड़ी देर इधर-उधर एवं जरूरी बातों के पश्चात् उनके रिश्तेदार ने स्वयं इनकी दूसरी लड़की की शादी की बात चलायी एवं थोड़े ही दिनों पश्चात् इनकी दूसरी लड़की की शादी बड़े धूमधाम के साथ सम्पन्न हो गई।

श्री जे० एन० बाबू का छोटा दामाद डाक्टर है एवं इनकी लड़की वहां बड़े ही आनन्दपूर्वक रह रही है। शादी के कुछ समय पश्चात् जब ये दोनों पति-पत्नी अपनी लड़की से मिलने गये तब उसके सास-ससुर ने कहा—भाईजी अब आप अपनी चिन्ता करें। हमारे होते हुए आपको अपनी बच्ची की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। इस दुर्घटना के पश्चात् इन्होंने अपना स्थानान्तरण दुर्गापुर स्टील प्लाण्ट से भिलाई स्टील प्लाण्ट में करा लिया। अब कुछ वर्षों से वे सेवामुक्त हो गये हैं। अब वे अपनी परम पतिव्रता पत्नी के साथ प्रभु सेवा में लगे हैं। यह घटना इन्होंने स्वयं श्री महाप्रभु जी को जन्मशती पर सुनाई थी। उस समय श्री जयनारायण बाबू पूर्ण स्वस्थ थे। श्री प्रभुजी की ऐसी अलौकिक कृपा देखकर यही कह सकते हैं कि

जाको राखे साईयां, मार सके ना कोय।
बाल न बांका कर सके, जो जग बैरी होय॥

इसीके साथ इस घटना को सुनाने के लिए श्री जयनारायण बाबू को बार-बार साधुवाद देते हुए इस लेख को विश्राम दिया जा रहा है एवं सिद्धयोग के सुयोग्य पाठकों से निवेदन किया जा रहा है कि इस लेख की त्रुटियों को बारम्बार क्षमा प्रदान करने की कृपा करें।

★ सत्पुरुषों से प्रेरणा पाकर अनासक्त भाव से यथाशक्ति कार्य करने वाले को सुयश प्राप्त होता है। उनसे प्रसन्न हुए सत्पुरुष निश्चय ही उसका कल्याण करते हैं।

★ पुरुष का शरीर रथ, आत्मा सारथी तथा इन्द्रियां घोड़े हैं। मन, बुद्धि और इन्द्रियों को वश में करके व्यक्ति अपनी आत्मा को पहचाने। आत्मा ही अपना मित्र और शत्रु दोनों है। जो स्व-अधीन है उसकी आत्मा ही सहायक है और जिसने अपने को नहीं जीता वह स्वयं अपना ही शत्रु है।

—महात्मा विदुर

भलाई का रास्ता

❀ श्री विष्णुप्रसाद व्यास (बीना)

अपने मन को मालिक के सच्चे प्रेम के रंग में रंगना चाहते हो तो पहले उस पर चढ़ी हुई मोह-ममता-रूपी मैल को सत्संग के सरोवर में जाकर धो डालो।

यह आम नियम है कि जिस कपड़े पर रंग चढ़ाना हो तो उसे पहले धोया जाता है। यदि कपड़ा कोरा है तो उसका कोरापन भी धोकर हटाया जाता है तब उस पर रंग चढ़ता और निखरता है। यदि अपने मन रूपी कपड़े को ईश्वर के सच्चे प्रेम और नाम के रंग में रंगना चाहते हो तो पहले उस पर पड़े हुए झूठ, छल, कपट आदि के धब्बों को सत्संग के निर्मल जल से धो डालो तो फिर उस पर ऐसा सुन्दर और पक्का रंग चढ़ेगा जो कभी उतरेगा नहीं। पलटू साहिब का वचन है :—

॥ कुण्डली ॥

धुबिया फिर मर जायेगा, चादर लीजे धोय।
चादर लीजे धोय, मैल है बहुत समानी।
चल सतगुरु के घाट, भरा जहाँ निर्मल पानी॥
चादर भई पुरानी, दिनों दिन बार न कीजे।
सतसंगत में सौंदि, ज्ञान का साबुन दीजे॥
छूटे कलिमल दाग, नाम का कलप लगावै।
चलिये चादर ओढ़ि, बहुर नहिं भव जल आवै॥
पलटू ऐसा कीजिये, मन नहिं मैला होय।
धुबिया फिर मर जायेगा, चादर लीजे धोय॥

सन्त सत्पुरुष उपदेश करते हैं कि ऐ जीव रूपी धोबी तू आलस्य और असावधानी को छोड़कर मन रूपी चादर को धोने का शीघ्रातिशीघ्र यत्न कर क्योंकि जीवन का कोई भरोसा नहीं है। मन रूपी चादर पर जन्म-जन्म की मैल चढ़ी हुई है और उस मैल से मन रूपी चादर खूब मैली हो चुकी है। उस मैल को साफ करने अर्थात् मन के धोने के लिए निर्मल जल तुम्हें गुरु के घाट अर्थात् सत्संग के सरोवर में ही मिलेगा। अतः अब देरी मत कर, लापरवाही और असावधानी की निद्रा से जाग और शीघ्रता से चादर धोने का यत्न कर क्योंकि यह चादर दिन-प्रतिदिन पुरानी होती जा रही है। पहले उसे सत्संग के वचनों रूपी जल में डुबोकर भिगो दे, फिर उस पर गुरु-ज्ञान का साबुन रगड़ ताकि उस पर जो कलियुग की मैल (सत्व, रज, तम आदि की मैल) चढ़ गई है, वह धीरे-धीरे उतर जाये तो उस पर नाम का कलफ लगा दे। फिर ऐसी स्वच्छ और चमकीली चादर ओढ़कर जब तू सच्ची दरगाह में जायेगा तो फिर तुझे दुबारा भवसागर में नहीं आना पड़ेगा। ऐसा यत्न करो कि मन रूपी चादर पर मैल चढ़ने ही न पाये क्योंकि मैल के चढ़ने से वह चादर भारी हो जाती है। चूंकि जीवात्मा ने यही चादर ओढ़ रखी है। उस चादर के बोझ से दबकर जीवात्मा के डूबने का भय रहता है।

भाव यह है कि मैला मन ही मनुष्य को भवसागर में डुबोने का कारण बन जाता है जबकि निर्मल मन जीव को भवसागर से पार उतरने के योग्य बनाता है। इसलिये जीव

अपने मन की मैल को धोने का पूरा-पूरा यत्न करे अर्थात् हर प्रकार से मन को उज्ज्वल करने का यत्न करे।

पृथ्वी से जब पेट्रोल निकलता है तो उसमें मैल भरी रहती है। तब उसको तेल शोधक कारखाने में शुद्ध किया जाता है। यदि उसमें तनिक-सा भी कचरा रह जाय तो वायुयान के गिरने का भय रहता है। इसी प्रकार जैसा कि ऊपर लिखित कथन में कहा गया है, वही मन प्रेम-भक्ति के उच्च मण्डलों की सैर कर सकता है जो शारीरिक मोह-ममता के कचरे (मैल) से मुक्त हो चुका है अर्थात् जो सद्गुरु शब्द की रिफायनरी (शोधन कारखाना) में पड़कर शुद्ध और साफ होकर निकला है।

गुरु-नाम के अभ्यास की कमाई किये बिना कई राजा-महाराजा अश्वमेध यज्ञ के पुण्य-प्रताप से, योगी योग-क्रियाओं के बल से इन्द्र की पदवी तक पहुँच जाते हैं। परन्तु चूँकि उनका मन सद्गुरु शब्द की रिफायनरी से निकला हुआ नहीं होता और उसमें वासना भरी हुई होती है। अतएव यह कामादि कचरा उन्हें फिर से नीचे गिरा देता है। ऐसे उदाहरण ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर देखने को मिलते हैं। उदाहरणार्थ राजा नहुष जो कि इन्द्रलोक में जाकर इन्द्रासन पर बैठ गया था, परन्तु उसके हृदय में इन्द्राणि से मिलने की जिज्ञासा जाग उठी। इसके फलस्वरूप वह अजगर जैसी योनि में जा गिरा।

एक दूसरे राजा के बारे में भी आपने पढ़ा या सुना होगा कि वह भी इन्द्रलोक में इन्द्र की पदवी पर था, परन्तु गौतम ऋषि की नारी अहिल्या प्राप्ति की इच्छा रूपी मैल ने उसे भी शाप दिलाया। उसके शरीर पर कोढ़ हो गया था और वह महा दुःखी था।

परन्तु जिसके ऊपर सन्त-सद्गुरु का हाथ होता है, वे ऐसे मलिन विचारों से बचे रहते हैं। वे अपने मन को ऐसे मलिन विचारों से मैला नहीं करते। अर्जुन को भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र जी की शरण-शरण प्राप्त थी और उनकी शुभ संगति के प्रभाव से उनका मन दर्पण की तरह साफ था। एक दिन उर्वशी नामक अप्सरा उनके पास आकर कहने लगी कि मैं आप से आप जैसा पुत्र उत्पन्न करना चाहती हूँ। मेरी आज्ञा को पूर्ण करो वरन् शाप दे दूँगी। परन्तु अर्जुन के मन में तनिक भी मैल नहीं थी, अतएव उसने निर्भयता-पूर्वक उत्तर दिया—माता! मुझको ही अपना पुत्र समझ लो—मैं तुम्हारा पुत्र हूँ और तुम मेरी माता हो। लो! तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हो गई। मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। यह सुनकर वह बहुत लज्जित हुई और लौट गई।

ऐसे ही एक बार श्री कबीर साहब के पास जाकर माया ने उन्हें भरमाना चाहा, परन्तु वह अपना नाक-कान कटवाकर लौट गई।

रामायण का इतिहास साक्षी है कि लक्ष्मण जी के आगे शूर्पनखा की दाल नहीं गली थी। यह सब ईश्वर की शरण में जाकर मन को शुद्ध करने का प्रताप है। ऐसे शुद्ध मन वालों के ऊपर ही गुरु प्रेम का रंग चढ़ता है। जिन लोगों के हृदय में विषय-विकारों की मैल भरी रहती है, वे यद्यपि ऊपर से

गुरु-प्रेमी बनकर प्रेम का दिखावा करते हैं, परन्तु वास्तव में वे ढोंगी हैं। एक म्यान में दो खड्ग कैसे समा सकेंगे? कबीर साहिब जी ने स्पष्ट कहा है—

॥ दोहा ॥

जब लग नाता जगत का,
तब लग भक्ति न होय।
नाता तोड़ हरि को भजे,
भक्त कहावे सोय॥

भौतिकवाद और अध्यात्मवाद एक-दूसरे के विपरीत हैं। शरीर असत्य है, आत्मा सत्य। परन्तु मन तो एक ही है, अतएव जिसका मन असत् पदार्थों में फँसा होगा, वह सत्य वस्तु अर्थात् ईश्वर के नाम की ओर कैसे चल सकेगा?

॥ दोहा ॥

कबीर मन तो एक है, भावें जहाँ लगाय।
भावें गुरु की भक्ति कर, भावें विषय कमाय॥

कथा है एक चींटी चावल लेकर जा रही थी। उसे मार्ग में दाल का दाना पड़ा मिल गया। उसने सोचा यह भी ले लूं परन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी सफल न हो सकी। यह खेल कबीर साहिब ने देखा तो कहा—

चींटी चावल ले चली,
बीच में मिल गई दाल।
कहे कबीर दोऊ न मिलें,
इक ले दूजी डाल॥

श्री हनुमान जी ने तो माला के मोतियों को भी यह देखने के लिये कि इनमें भगवान का नाम है अथवा नहीं, तोड़-तोड़ कर फेंक दिया। यद्यपि संसार की दृष्टि में वे अति मूल्यवान और अलभ्य मोती थे।

भक्त ध्रुव ने वह राज्य भी लेने से मना कर दिया जिसके प्राप्त हो जाने पर उसे हर प्रकार के शारीरिक सुख उपलब्ध हो जाते।

ईश्वर की भक्ति के लिये महाराजा भर्तृहरि ने रत्न आदि से जड़े हुए राज-प्रासाद और सहस्रों रानियों का भी प्रसन्नता-पूर्वक त्याग कर दिया जबकि संसार में एक स्त्री की इच्छा में कई मनुष्य जान की बाजी लगा देते हैं।

ये जितने उदाहरण दिये गये हैं और इन सब ने जो इतना बड़ा त्याग किया, आखिर कुछ सोच-समझकर ही तो किया। क्योंकि वे अपने-अपने समय में बड़े बुद्धिमान और श्रेष्ठ माने गये हैं और आज तक संसार इन्हें महा-पुरुष कहकर पुकारता आ रहा है। यही नहीं इनके नाम का सहारा लेकर सहस्रों मनुष्य आज भी गलत मार्ग को छोड़कर सही मार्ग पर चल रहे हैं। कोई पूछे ऐसा क्यों है? कारण स्पष्ट है कि इन्होंने सांसारिक काम-नाओं का पूर्णरूपेण त्याग किया, अपने मन की चादर पर कोई धब्बा, कोई मैल, कोई मोह-ममता का कचरा नहीं रहने दिया। इससे इनके जीवन प्रकाशपूर्ण हो गये।

इसीलिये श्री गुरुदेव पवित्र वचन द्वारा उपदेश करते हैं कि यदि ईश्वर के सच्चे प्यार का रसपान करना चाहते हो तो उसके लिये सांसारिक रसों के प्यार को पूर्णतया त्याग दो, वरना समय भी नष्ट करोगे और सफ-लता भी नहीं प्राप्त होगी और अन्त में पछताने और हाथ मलने से कुछ न मिलेगा।

षटकर्म—

कुञ्जल-गजकरणी

❁ श्री राजेश शर्मा

यौगिक साधनों में सभी साधन अपने अपने स्थान पर अपूर्व महत्त्व रखते हैं परन्तु योग साधना में षटकर्मों का विशेष महत्त्व है। इसका अभ्यास किये बिना योगाभ्यासी का योग मार्ग में आगे बढ़ना असम्भव नहीं, तो दुर्लभ अवश्य है। षटकर्म के अभ्यास से शरीर के मल दूर होते हैं, जिस प्रकार कमरे की झाड़ू आदि द्वारा सफाई की जाती है तब बैठने योग्य होता है। उसी प्रकार षटकर्म द्वारा शरीर की शुद्धि करके उसे यौगिक साधन के योग्य बना लिया जाता है। यहीं से योग मार्ग की प्रथम सीढ़ी शुरू होती है। योगशास्त्र में षटकर्म पर बहुत कुछ लिखा है जैसे—

(१) धौति, (२) बस्ति, (३) नेति, (४) नौली, (५) त्राटक, (६) कपालभाति (भस्त्रिका)।

प्रस्तुत लेख में 'कुञ्जल' क्रिया के विषय में लिखने का प्रयास कर रहे हैं।

गज कर्म ताहि जानिये, पिये पेट भर नीर।
फेरि युक्ति सों काढ़िये, रोग न होय शरीर॥

'भक्ति सागर' ग्रंथ में इसका विशेष वर्णन किया है—

गज कर्म ताहि जानिये, पिये पेट भर नीर।

जिस प्रकार हाथी सूँड़ से जल पीकर फिर सूँड़ द्वारा ही निकाल देता है और अपने को सदा नीरोग रखता है उसी प्रकार मनुष्य भी कुञ्जल करके अपने आपको नीरोग रखने योग्य हो सकता है। जैसे किसी बर्तन में पानी डालकर साफ करते हैं उसी प्रकार गर्म पानी पीकर पेट साफ किया जा सकता है।

साधन—सहने लायक गर्म जल साफ वस्त्र से छान कर पास रखें।

स्थिति—कागासन से बैठ जायें, दोनों कुहनियाँ घुटने पर रहें।

क्रिया—कागासन से बैठकर गिलास से पानी पीना आरम्भ करें और तब तक पानी पीते रहें जब तक पेट पूर्ण रूप से न भर जाये या पीते-पीते वमन करने की इच्छा न होने लगे। जल पीने के बाद दोनों पैरों को आपस में मिलाकर इस प्रकार खड़े हों कि नाभि पर नब्बे डिग्री का कोण बन जावे। तत्पश्चात् बांये हाथ को पेट पर रखकर दांये हाथ की तर्जनी, मध्यमा तथा अनामिका तीनों अंगुलियाँ मिलाकर मुख के अन्दर वहाँ तक ले जायें जहाँ तक छोटी जीभ है। उस जीभ पर धीरे-धीरे तीनों अंगुलियों को सावधानी से घुमावें, जब पानी बाहर निकलने लगे तब अंगुलियों को तुरन्त बाहर निकाल लें, जब तक धार बँधकर पानी निकलता रहे तब तक अँगुलियाँ बाहर रखें, फिर तुरन्त उसी प्रकार तीनों अँगुलियाँ छोटी जीभ पर घुमावें। ऐसा बार-बार करने से पेट का सारा पानी बाहर निकल जायेगा। सारा पानी निकल जाने की पहचान यह है कि जब अँगुलियाँ मुँह में डालेंगे और उल्टी आने पर पानी न निकले तो यह समझना चाहिये कि पेट का सारा पानी बाहर आगया, ध्यान रहे

(शेष पृष्ठ १९ पर)

श्री सिद्ध गुफा की पावन-रज

श्री अशोक द्विवेदी, (झांसी)

श्री सिद्ध गुफा की पावन-रज को, सत्-सत् नमन करूँ ।
योगेश्वर प्रभु रामलाल के पद नख हृदय धरूँ ॥

श्री सिद्ध गुफा की पावन-रज ने, कितने पतितों को तारा ।
जिसने भी यहाँ शीश झुकाया, प्रभुजी का मिला सहारा ॥
अभय बनाया पावन-रज ने, महिमा कहाँ लौं कहूँ ।
श्री सिद्ध गुफा की पावन-रज को, सत्-सत् नमन करूँ ॥१॥

जीवन की बुझती ज्योति, यहाँ आकर ज्वलित हुई है ।
मुरझी हुई जीवन आशायें, इस आंगन में महक उठी है ॥
श्री गुरुवर के "रज प्रसाद" को भूल हों न बिसरूँ ।
श्री सिद्ध गुफा की पावन-रज को, सत्-सत् नमन करूँ ॥२॥

मानव जब सारे प्रयत्नों-कर, हाथ नहीं कुछ पाता है ।
तब प्रभु के चरणों की पावन-रज से, आशा की किरणें जगाता है ॥
प्रभु रामलाल की अमर धरोहर, अपने शीश धरूँ ।
श्री सिद्ध गुफा की पावन-रज को, सत्-सत् नमन करूँ ॥३॥

(पृष्ठ १८ का शेष)

कि क्रिया करते समय शरीर को अधिक ऊपर नीचे न मारें, बैठकर तथा बिल्कुल सीधे होकर क्रिया नहीं करनी चाहिए क्योंकि इससे हानि होती है ।

विशेष—अन्त में जब खट्टा या कड़ुआ पानी निकले तो पुनः एक गिलास गर्म जल पीकर पुनः उसी प्रकार बाहर निकालें । यह सदा ध्यान रखने की बात है कि पानी न अधिक गर्म हो और न ही ठण्डा । ध्यान रहे कि कुञ्जल करने के ढाई घण्टे बाद ही स्नान करना चाहिये, इससे पूर्व स्नान करने पर हानि की सम्भावना है । इस क्रिया को ८ दिन में एक बार अवश्य कर लेना चाहिये ।

समय—कुञ्जल क्रिया सर्वथा सूर्योदय से पहले शौच, स्नान आदि से निवृत्त होकर ही करना उत्तम है ।

लाभ—इस कर्म के करने से कपोल दोष, मुख पर होने वाले फोड़े-फुंसी, दन्त रोग, जिह्वा रोग, हृदय रोग, रुधिर विकार, वक्ष-स्थल के रोग, कब्ज, पित्त प्रकोप, वात प्रकोप, कफ प्रकोप, मन्दाग्नि, खाँसी, दमा, मुख सूखना, रतौंधी आदि बीमारी दूर हो जाती है इसके लाभ अद्भुत हैं । इसको किसी योग-प्रशिक्षण केन्द्र में जाकर सीखना चाहिये । ★

मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति

(मेरा भक्त सारे संसार को पवित्र करता है)

☆ पं० राजेन्द्रप्रसाद पाठक

श्री भगवान की प्रसन्नता के लिए, भगवद्बुद्धि से निष्काम भावपूर्वक, शास्त्रोक्त, स्वभावज एवं खाने-पीने तथा सोने-जागने आदि सभी कर्मों में, वर्ण एवं आश्रमादि कर्तव्य-कर्म में भी, यदि साधक अपने कर्मों के द्वारा उस परमात्मा का संस्मरण एवं पूजन करता है तो मात्र उसकी क्रियायें एवं अभिलाषायें ही परमात्मा प्राप्ति की ओर उन्मुख करा देती है। श्रीमद्भागवत् पुराण में वर्णन आता है कि पितामह भीष्म ने अर्जुन के साथ युद्ध करते हुए, अर्जुन के सारथि बने हुए भगवान श्रीकृष्ण को अपनी युद्धरूप कर्म के द्वारा बाणों से पूजा की। भीष्म के बाणों से भगवान का कवच टूट गया, जिससे भगवान के शरीर में घाव हो गये और हाथ की अंगुलियों में छोटे-छोटे बाण लगने से अंगुलियों से लगाम पकड़ना कठिन हो गया, ऐसी पूजा करके अन्त समय में शर-शय्या पर पड़े हुए पितामह भीष्म अपने बाणों द्वारा पूजित भगवान का ध्यान करते हैं—"युद्ध में मेरे तीखे बाणों से जिनका कवच टूट गया है, जिनकी त्वचा विच्छिन्न हो गयी है, परिश्रम के कारण जिनके मुख पर स्वेदकण सुशोभित हो रहे हैं, घोड़ों की टापों से उड़ी हुई रज जिनकी सुन्दर अलकावलि में लगी हुई है, इस प्रकार बाणों से अलंकृत भगवान कृष्ण में मेरे मन, बुद्धि लग जायें।"

युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्कचलुलितश्रमवार्यलंकृतास्ये ।
मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा ॥

(श्रीमद्भागवत १/९/३४)

इस प्रकार मननशील एवम् गूढ़ बात तो यह हुआ कि साधक के अन्तर्गत शरीर एवम् संसार का निमित्त मात्र के अलावा प्राणपोषण बुद्धि एवं इन्द्रिय लोलुपता जैसी श्लिष्ट (चिपकी हुई) बात नहीं होती, उसे तो अपने अभिलषित कर्म में ही निर्लिप्ततः ईश्वरीय प्रेम रहता है। उसका उद्देश्य मात्र परमात्मा होता है। उसे भगवान प्राणों से भी प्यारे होते हैं। जब जीव को अपने प्राण का मोह न रह जाय और ईश्वर ही प्राणों का मात्र आधार हो तथा श्री प्रभु को ही प्राणनाथ, प्राणेश्वर, प्राणप्रिय आदि सम्बोधनों से पुकारता हो तो स्वयं उस वियोग में सहजतापूर्वक प्राण त्यागकर सकता है। गोस्वामी तुलसीदास जी भी इसी बात की पुष्टि करते हैं—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई । अभिअन्तर मल कबहुं न जाई ॥

(मानस ७/४९/३)

श्री गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं ही सम्बोधन करते हुए कहा—"जो सब में मुझको देखता है और सबको मुझमें देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।" अर्थात्—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ (गीता ६/३०

श्रीमद्भागवत महापुराण के दशम स्कन्द में वर्णन आता है कि ब्रह्मा जी ने भगवान श्रीकृष्ण को समझने हेतु बछड़ों एवं ग्वाल-बालों को चुरा लिया और भगवान श्रीकृष्ण स्वयं ही बछड़े और ग्वाल-बाल बन गये। बछड़े और ग्वाल-बाल ही नहीं बल्कि उनके बेंत (डण्डे), सींग, बाँसुरी, वस्त्र-आभूषण आदि भी स्वयं भगवान श्रीकृष्ण हो बन गये। यह लीला एक वर्ष तक चलती रही। यहाँ तक कि—"वे बालक और बछड़े संख्या में जितने थे, जितने छोटे-छोटे उनके शरीर थे, उनके हाथ-पैर आदि जैसे-जैसे थे, उनके पास जितनी और जैसी छड़ियाँ, सींग, बाँसुरी, पत्ते और छींके थे, जैसे और जितने वस्त्राभूषण थे उनके शील, स्वभाव, गुण, नाम, रूप और अवस्थायें जैसी थीं, जिस प्रकार वे खाते-पीते, चलते आदि थे, ठीक वैसे ही और उतने ही रूपों में सर्वस्वरूप भगवान श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। उस समय—'यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (जगत्) विष्णु रूप है'—यह वेद वाणी मानो मूर्तिमती होकर प्रकट हो गयी।'

यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं,
यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिग्यावद्विभूषाम्बरम् ।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारादिकं,
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ ।

(श्रीमद्भागवत १०/१३/१९)

इस आनन्दभरी रहस्यमयी लीला का किसी को पता नहीं चला। एक दिन श्री बलराम जी ने देखा कि छोटे बछड़े वाली गायें भी अपने पहले के (बड़े) बछड़ों को देखकर हुँकार मारती हुई दौड़ पड़ीं और रोकने पर भी न रुकीं। इससे गोपों को थोड़ा क्रोध आया पर अपने बालकों को देख गुस्सा शान्त कर अपने बालकों को हृदय से लगाने तथा उनके माथा सूँघने लगे। इस लीला को श्री बलराम जी ने ध्यान लगाकर विचार किया और देखा कि उनके बछड़ों और ग्वाल-बालों के रूप में भगवान श्रीकृष्ण स्वयं ही दिखाई दे रहे हैं।" भाव यह है कि भगवान का सिद्ध भक्त सब जगह भगवान को ही देखता है। उसकी दृष्टि में देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, पशु, पक्षी, देवता, यक्ष, राक्षस, पदार्थ, परिस्थिति, घटना एवं सम्पूर्ण चराचर में भगवत् सत्ता के सिवाय दूसरी सत्ता का लेशमात्र भी अनुभव नहीं करता; तब श्री प्रभु स्वयं ही आश्रय देते हैं क्योंकि ईश्वर का यह नियम है कि—"जो जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं भी उसी प्रकार उनको आश्रय देता हूँ—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् । (गीता ४/११)

जब भक्त (अन्तर्गत) सगुण, निर्गुण अर्थात् व्यापक रूप से परमात्मा श्री प्रभु की शरण लेता है तो अपने श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान में तल्लीनता-वश अभिष्ट फल भी प्राप्त करता है, उसके अन्तर्गत कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि सम्पूर्ण योग स्वयं ही समाहित हो जाते हैं क्योंकि उस श्री प्रभु भगवान को ही महायोगेश्वर कहते हैं। अतः महायोगेश्वर के शरण होने पर कोई भी योग अवशिष्ट ही नहीं रहता। भगवान कहते हैं कि—"काष्ठ और पाषाण के सदृश म्रियमाण उस भक्त का मैं स्वयं स्मरण करता हूँ और

उसको परमगति प्रदान करता हूँ, यदि कफ वातादि दोषों के कारण मेरा भक्त मृत्यु के समय मेरा स्मरण नहीं कर पाता, तो मैं स्वयं उसका स्मरण करता हूँ। यदि मैं ऐसा न करूँ, तो मेरे से बढ़कर कृतघ्न कोई नहीं हो सकता।" यथा—

ततस्तं म्रियमाणं तु काष्ठ पाषाण सन्निभम्।
अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्॥
कफवातादि दोषेण मद्भक्तो न च मां स्मरेत्।
तस्य स्मराम्यहं नो चेत कृतघ्नो नास्ति मत्परः॥

अतः मार्मिक बात को भगवान ने श्रीमद्भागवत महापुराण में वर्णन किया है— जिसकी वाणी मेरे नाम, गुण और लीला का वर्णन करती-करती गद्‌गद हो जाती है, जिसका चित्त मेरे रूप, गुण, प्रभाव और लीलाओं को याद करते-करते द्रवित हो जाता है, जो बारम्बार रोता रहता है, कभी-कभी हँसने लगता है, कभी लज्जा छोड़कर ऊँचे स्वर से गाने लगता है, कभी नाचने लगता है ऐसा मेरा भक्त संसार को पवित्र कर देता है।

वाग्गदगदा द्रवते यस्यचित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्‌गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
(श्रीमद्भागवत ११/१४/२४)

प्रायः ऐसा व्यवहारिकता में भी पाया जाता है कि किसी एक जगह भी, यदि अपनी प्रिय वस्तु मिल जाय तो चित्त को बड़ी प्रसन्नता और शरीर को बड़ा आनन्द मिलता है। अतः जिसे उस परमपिता परमेश्वर श्री प्रभु रूप इष्टदेव का अनुभव है उसके देखने, मिलने, सुनने एवं समझने में संसार में क्या कुछ अवशेष रह जाता है। अतः पुनः श्री भगवान ने पुष्ट किया—

मनसा वचसा दृष्ट्यागृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदितिबुध्यध्वमञ्जसा॥
(श्रीमद्भागवत ११/१३/२४)

अर्थात् मन से, वाणी से, दृष्टि से तथा अन्य इन्द्रियों से भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। मुझ में भिन्न और कुछ भी नहीं है। यह सिद्धान्त आप लोग विचार पूर्वक समझ लीजिये।

निदान, अपने विवेक-विचार, स्वाध्याय, सत्सङ्ग आदि के द्वारा जातिगत, कुल-परम्परागत एवं व्यक्तिगत आदि में जो भी शास्त्र-विपरीत दोष आयें उन्हें दूर करते हुए अपने मन में स्वच्छता, निर्मलता, पवित्रता आदि अनेक कर्मों से उस एक परमात्मा की प्राप्ति का उद्देश्य रखते हुए मनुष्य जन्म के ध्येय में लग जाना ही कर्मों की अभिरति है।

कर्म

अभिरति (अनासक्ति भाव) — आसक्ति

श्री महाप्रभु कृपा :—

साधक को सिद्ध बनाना

श्री रमाकान्त उर्फ कन्हैयालाल उपाध्याय (वाराणसी)

आज की इस तेज रफ्तार जिन्दगी में ज्यादातर लोग उपेक्षित लोगों (पागल, कोढ़ी आदि) की तरफ ध्यान नहीं देते हैं, परन्तु ऐसा देखने में आता है कि अनेक सिद्ध व योगी लोग समाज के प्रपञ्चों से बचने के लिए ऐसा रूप धारण कर लेते हैं एवं हम लोग उन्हें पहचान नहीं पाते हैं। लेकिन अकारण दयालु, प्राणीमात्र के भाग्य-विधाता, आनन्दकन्द योग-योगेश्वर हमारे दादा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज के लिए कोई कार्य असम्भव नहीं है। ऐसे ही तीन सिद्ध पुरुषों की महाप्रभु जी द्वारा उद्धार की घटना का वर्णन यहां किया जा रहा है। ये तीनों घटनाएं महाप्रभु जी द्वारा श्री हरिसिंह जी के साथ किये गए भ्रमण के समय घटित हुयी। श्री सिद्धयोग के सुयोग्य पाठकों से सविनय प्रार्थना है कि इस लेख की त्रुटियों को क्षमा प्रदान करते हुए इस लेख की घटनाओं का आनन्द लाभ प्राप्त करें।

महाराजा कर्णसिंह जो कि केन्द्रीय मन्त्रि-मण्डल के सदस्य रह चुके हैं, उनके पिताजी श्री हरिसिंह जी योग-योगेश्वर हमारे दादा गुरुदेव श्री रामलाल जी महाराज के प्रिय शिष्यों में से थे। अपने गुरुदेव योग-योगेश्वर जी के चरणों में उनकी अपार श्रद्धा थी। हमारे दादा गुरुदेव भी चक्रवर्ती सम्राट के लाडले बेटे की तरह उन्हें अगाध प्रेम करते थे। श्री हरिसिंह जी भ्रमण करने के बड़े ही शौकीन थे। अतः वे महाराज जी से निवेदन किया करते थे कि प्रभुजी आप भी भ्रमण करने चलें। वे बार-बार श्री प्रभुजी से भ्रमण पर चलने की प्रार्थना किया करते थे। श्री प्रभुजी हर बार उनकी प्रार्थना सुनकर मुस्करा दिया करते थे और कहते थे कि—बेटा! अभी नहीं फिर कभी चलेंगे। एक दिन जब श्री हरिसिंह जी ने विशेष आग्रह किया कि प्रभुजी आज तो आपको भ्रमण पर चलने की कृपा करनी ही होगी। तब श्री प्रभुजी ने कहा कि ठीक है आज हम तुम्हारे साथ भ्रमण करेंगे। राजघराने से जब गुरु-शिष्य बाहर निकले तब श्री हरिसिंह जी ने प्रार्थना की कि प्रभो! कहां भ्रमण करने की इच्छा है। तब श्री मुख ने आदेश दिया कि बेटा! पहले पागलखाने चलो। श्री हरिसिंह को यह बात बड़ी अटपटी-सी लगी कि पागलखाना भी कोई देखने का स्थान है। परन्तु गुरु की आज्ञा थी सो पालन तो करना ही था। अतः श्री हरिसिंह जी श्री प्रभुजी के साथ पागलखाना देखने पहुँचे। श्री प्रभुजी पागलखाने में प्रवेश करने के पश्चात् आगे बढ़ते गये और एक किनारे पर जाकर एक कोठरी के सामने खड़े हो गये। उनके पीछे-पीछे श्री हरिसिंह जी चल रहे थे। श्री हरि-सिंह जी ने देखा कि उस कोठरी के दरवाजे

पर ताला लगा हुआ है और उसमें एक निर्वस्त्र पागल आदमी हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रहा है कि प्रभो ! आप सर्वशक्तिमान हैं। हे परवर-दिगार आलम, आपका ही इन्तजार था और अब आप आ ही गये। कल्याण करो, प्रभु कल्याण करो। वह पागल कोठरी के भीतर से ही श्री प्रभुजी को बार-बार साष्टाङ्ग प्रणाम कर रहा था।

श्री प्रभुजी ने श्री हरिसिंह जी को आदेश दिया कि तुम इस पागल को पागलखाने से मुक्त करा दो। श्री हरिसिंह जी ने श्री प्रभुजी से निवेदन किया कि प्रभो ! यह तो एकदम पागल है, यह तो लोगों को ईंट-पत्थर मारता है। श्री प्रभुजी ने कहा कि—बेटा ! यह एक योगी है। इसने दुनिया से बचने के लिए युक्तिपूर्वक कार्य लेने के लिए ऐसा आहार-विहार कर लिया है। श्री हरिसिंह जी ने पागलखाने की उस कोठरी का ताला खुलवाया, वह पागल के वेश में छिपा हुआ योगी दौड़ता हुआ आया और श्री प्रभुजी के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया। श्री महाप्रभुजी ने अपने कर-कमलों से उसे उठा लिया। श्री प्रभुजी के उठाने के बाद, वह हाथ जोड़कर उनसे कुछ दूर जाकर खड़ा होकर प्रार्थना करने लगा कि—प्रभु ! अब मेरे लिए क्या आज्ञा है। श्री प्रभुजी ने आदेश दिया कि बेटा ! इस पहाड़ी पर जाकर अपनी साधना करो। उसके पश्चात् वह पागल रूपी योगी दौड़ता हुआ श्री प्रभुजी द्वारा बतलाई गई पहाड़ी पर चढ़कर ओझल हो गया।

उस पागल रूपी योगी का उद्धार करने के पश्चात् जब योगेश्वर प्रभु श्री दाता गुरुदेव अपने प्रिय शिष्य श्री हरिसिंह के साथ आगे बढ़े तो हरिसिंह जी ने पूछा—प्रभो ! अब किधर भ्रमण करने की इच्छा है। श्री गुरु ने आदेश दिया कि—बेटा ! अब हम नाले वाले रास्ते से चलेंगे। जिस नाले की तरफ चलने की आज्ञा श्री प्रभुजी ने दी थी, वह शहर का सबसे गन्दा नाला था। जिस नाले में पूरे शहर का मल, मूत्र एवं गन्दा पानी बहता था। श्री गुरु-शिष्य दोनों ही उस नाले वाले रास्ते से होकर चलने लगे। जिस रास्ते से ये लोग जा रहे थे, वह रास्ता इतना गन्दा था कि बहुत ही भयानक दुर्गन्ध उस रास्ते से आ रही थी। श्री हरिसिंह जी को यह देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि तीनों लोक के कर्त्ता-धर्त्ता आज इतने गन्दे रास्ते पर क्यों चल रहे हैं। एकाएक चलते-चलते महाप्रभु जी रुक गये। उनका रुकना था कि, उसी गन्दे नाले से मल, मूत्र लिपटा हुआ बिल्कुल नंगे बदन का एक पागल वेषधारी आदमी निकलकर दौड़ता हुआ आया। श्री हरिसिंह जी अभी उसे दूर रहने का आदेश देने की बात सोच ही रहे थे कि वह पागल वेषधारी दौड़ता हुआ आया और श्री चरणों से लिपट गया। उसके साष्टाङ्ग प्रणाम करने के बाद श्री प्रभुजी ने उसे अपने कर-कमलों से उठाकर कण्ठ से लगा लिया। उसके शरीर का गन्दापन श्री प्रभुजी के शरीर में भी लग गया। परन्तु श्री प्रभुजी काफी देर तक उसे अपने कण्ठ से लगाकर प्यार करते रहे। जब वह श्री प्रभुजी के कण्ठ से अलग हुआ तो दोनों हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और

प्रार्थना की कि—हे सर्वशक्तिमान ! मेरे लिए आपकी क्या आज्ञा है । श्री प्रभुजी ने आदेश दिया कि—बेटा ! इस पहाड़ी पर जाकर अपनी साधना करो । अब हम तुम्हारी सहायता वहीं किया करेंगे । इस प्रकार उसे निहाल कर श्री प्रभुजी ने आगे की अपनी यात्रा के लिये भ्रमण करना आरम्भ किया । अपनी यात्रा करते हुए श्री प्रभुजी ने हरिसिंह जी से कहा कि—बेटा ! यह एक योग्य योगी है, इसने दुनिया से बचने के लिए ऐसा वेष बना लिया है । यह एक सिद्ध योगी का योगी है । उसके पश्चात् दोनों गुरु-शिष्य अपने आगे के भ्रमण पर चल पड़े ।

श्री हरिसिंह जी अपने आराध्यदेव हमारे दादा गुरुदेव अकारण दयालु परम योगयोगेश्वर श्री महाप्रभु जी के साथ फिर भ्रमणार्थ आगे बढ़े तो श्री हरिसिंह जी ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि प्रभो ! अब किधर चलने की इच्छा है। श्री प्रभुजी ने आदेश दिया कि हरिसिंह अब हम इस रास्ते पर चलेंगे । अपने प्रिय शिष्य हरिसिंह के साथ प्रभुजी उस रास्ते पर चल पड़े । करीब एक किलोमीटर चलने पर श्री हरिसिंह जी को विपरीत दिशा से एक विचित्र वेषधारी मनुष्य दौड़ता हुआ आता दिखलाई दिया । उसे देखकर श्री प्रभुजी एकाएक रुक गये । उस आदमी ने दूसरों के फटे-पुराने कपड़े धारण कर रखे थे । उसके शरीर से बहुत दुर्गन्ध आ रही थी । वह दौड़ता हुआ आया और उसने लेटकर श्री प्रभुजी के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया । श्री प्रभुजी ने उसे आशीर्वाद दिया । इसके पश्चात् वह श्री प्रभुजी के सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया एवम् प्रार्थना कर कहने लगा कि—प्रभो ! मेरे लिये क्या आदेश है । श्री प्रभुजी ने आदेश दिया कि—आगे बढ़ो, इस पहाड़ी पर चले जाओ और वहीं पर अपनी साधना करो । श्री प्रभुजी का आदेश पाकर वह विचित्र वेषधारी मनुष्य हाथ में खप्पर लिये दौड़ता हुआ पहाड़ी की तरफ बढ़ता हुआ चला गया ।

इन तीनों योगियों पर कृपा करने के बाद करुणानिधान श्री प्रभुजी अपने लाड़ले शिष्य श्री हरीसिंह के साथ अपने निवास स्थान पर वापस आ गये । अतः अपनी इन आँखों से सिद्ध योगियों को पहचानना एवम् समझना हमारे लिए बड़ा ही कठिन कार्य है । अब अकारण दयालु, हमारे आपके भाग्यविधाता महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज एवम् अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज के कमलवत चरणों का ध्यान करते हुए इस लेख को यहीं विश्राम दिया जा रहा है । आशा है श्री सिद्धयोग के सुयोग्य पाठक लेख की गलतियों को नजरअन्दाज करते हुए श्री प्रभुजी की कृपा से भरे तीनों प्रसङ्गों का पुण्य लाभ प्राप्त करेंगे ।

श्री सद्गुरुदेवान् प्रति सविनयं समर्पणम्

श्री द्वारका प्रसाद शर्मा
३०६-ए (अभिषेक) "प्रियान्तिकुञ्ज" गुल्दिकी-उदयन २,
दतरेटिया, रायबरेली रोड, (लखनऊ)

(१)

गुरुर्नो योगानां जटिल विषयान् कृत्य सरलान्, स्वकीयैर्दृष्टान्तैरनुभवगतान् रोचकतया ।
अनेकं वारं वै कथयति स्वशिष्यान् प्रवचनैः विवेचनैः तावत् सबल सुमतिशैलि विषये ॥

(२)

स दीक्षां दत्वा नो सफलमनुयानं कृत्य कृपया, प्रबुद्धान् कुरुते स्म नियत समये निगमिततया ।
जपं कर्तुं तावत् सविधि यतमानश्च भूत्वा, त्रिकालं वा कालं च दिनमनुदिनं ब्राह्म समये ॥

(३)

गुरुर्नो शिष्यान् स्वानतिमधुरया गद्गद् गिरा, 'लला' शब्देनाथ मधुमधुरयोच्चारणतया ।
'लली' वा सम्बोध्य गिरति मित्या स्म किमपि वा, यदैवासीत् सत्यं न भवितुमर्हं तद्वचनानाम् ॥

(४)

विना कृत्वा किञ्चित् वयमिह प्रभूताम् स्वविनयात्, निराकर्तुं चेष्टासह इव कथा कुमतिनो ।
विना यत्नैः साध्यं किमपि फलितं स्यान्ननु कदा, अतः संयोज्यं नो मन इह सपदि योग-विषये ॥

(५)

गुरुर्नो बहुशो वै कथयितुमिहास्ते सरसमाम्, स्वशिष्यान् तान् ये तु मनसि तनुते मायकृपकाम् ।
विनैव यत्नैः स्वैर्भवति फलिता काचित् कृपा, न नो नास्ति सा या भवितुमर्हा सत्यकामात् ॥

(६)

कृपा नैवास्तीह ननु न च तेषां मतमिदम्, कुरुध्वं स्वकृत्यान् जपनमपि ध्यानं यथोक्तम् ।
स्वयं वीक्षध्वे त्वं क्रमश एवानुभवतः, कथं योगोऽज्ञस्य च भवति त्वदनुसरोऽहं भविता ॥

(७)

प्रहृष्टैर्वाग्भिर्वै अहरहरः स्म प्रवचनैः, अहो! यूयं भाग्य निधिरपि अक्षय्या दरिद्राः ।
अतः सोत्साहा वै कुरुत च योग सकलाद्, 'मिहान्ते' भविताऽथ परमसुखभाजश्चतुरम् ।

(८)

कदाचिन्नोऽविदपदो जपनमधिकं भूरि कुरुत, इदं बारम्बारं गुरुवर निदेशं स्मरतरे ।
सुखं वा स्याद्दुःखं नियममत एव कुरुत वै, स्वमन्त्रोच्चारं स्यादहरहः श्वास क्रमतः ॥

(९)

स्मर सखे ! गुरुवाक्यमिदं तथा, कथयति स्म सदा वचनेषु सः ।
अधिगता कतमा त्रि न योग्यता, मनुज जन्म तु सारयते ध्रुवम् ॥

(१०)

यदा कदा वै मधुदोषिता गिरः, मिथ्यात्व दोषाश्च भवन्ति यास्तु ।
यद् वा यदा वा कथितास्तु वाचः, सत्यस्य सत्तामधिरोहतो ते ॥

(११)

नमामि गुरुवाक् कथितास्तु मन्त्राः, कदापि या चेतोभणितं परस्मै ।
सद्वाक्य एवोपलक्षिता सदैव, सत्यं सदास्ति गुरुवाक् न कदापि मिथ्या ॥

(हिन्दी रूपान्तर)

१. हमारे सद्गुरुदेव योग के जटिल विषयों को अपने अनुभव में आये हुए दृष्टान्तों को देते हुए रोचक ढंग से सरल करके समझाया करते थे। वे अनेकों बार अपने प्रवचनों में शिष्यों से कहते रहते थे जिससे योग के विषयों में उन शिष्यों की बुद्धि प्रबल रूप से दृढ़ स्थिति को प्राप्त करती रहे।

२. श्री सद्गुरुदेव ने कृपापूर्वक हमें दीक्षा देकर हमारे जन्म को सफल कर दिया है। वे हमें ब्राह्ममुहूर्त में प्रातःकाल सचेत होकर दो घण्टे नियत समय पर दिन-प्रतिदिन जप करने के निमित्त सचेत एवं प्रबुद्ध करते रहते थे।

३. हमारे सद्गुरुदेव अपने शिष्यों को मधु से भी मधुर अतिशय गद्गद वाणी से 'लला' या 'लली' शब्दों के उच्चारण से सम्बोधित करते हुए जो कुछ भी कहा करते थे, वह सत्य ही होता था असत्य तो हो ही नहीं सकता था।

४. और इधर हम बिना कुछ किये अपनी ढेर सारी समस्याओं को बटोरे उनसे निराकरण कराने की कैसी कुचेष्टा में लगे रहते थे। (उनका कथन तो था) बिना यत्नों के साध्य कोई भी विषय कभी फलवान् नहीं हुआ करता है; अतः तुम्हें 'लला' शीघ्र ही अपने मन को योग विषय में संयुक्त कर लेना चाहिये।

५. हमारे सद्गुरुदेव मुझ सरीखे अपने शिष्यों को प्रायः यह कहा करते थे कि मात्र गुरुकृपा के सहारे (मेरे पास मात्र बैठे रहने से) प्रदत्त मन्त्र के बिना जाप व ध्यान किये गुरुकृपा भी फलवती नहीं हुआ करती है।

६. उनका यही मन्तव्य था कि कृपा जो एकबार सद्गुरुदेव कर दिया करते हैं, उसके पश्चात् अपने ऊपर स्वयं ही व्यक्ति विशेष को कृपा करनी होती है। जप व ध्यानादिक कृत्यों को यथोक्त व यथाविधि आचरण करना चाहिये। वे बहुधा संकेत करते रहा करते थे कि तुम अपनी अनुभूति में क्रमशः स्वयं ही देख लोगे कि यह योगाचार तब स्वयं तुम्हारा अनुवर्तन करेगा।

७. दिनानुदिन श्री सद्गुरुदेव अपने उत्कृष्ट प्रवचनों के बीच कहा करते कि योग जैसी अक्षयनिधि (खजाने पर बैठकर भी) प्राप्त करके भी तुम दरिद्र बने हुए हो। अतः उनका कथन था कि तुम सोत्साह होकर इस सकल कामना के पूरक योग विषय में प्रवृत्ति किये रहो। 'तुम निहाल हो जाओगे' और परमश्रेयोभागी भी बन जाओगे।

८. श्री सद्गुरुदेव कहा करते थे कि कभी तुम पर कोई विपदा आदि आ भी जाय तो तुम अपने मन्त्र के जाप का विस्तार अधिक से अधिक कर दो। यही निर्देश वे बारम्बार किया करते थे। अतः क्यों नहीं, सुख की स्थिति हो अथवा दुःख की घड़ी, इस मन्त्र जाप को नियमतः अहर्निश श्वास-प्रश्वास द्वारा करने में क्या हानि है, लाभ ही लाभ इसमें निहित होगा।

९. हे मित्र! श्री सद्गुरुदेव द्वारा नित्य प्रवचनों में कहे गये इस वाक्य का स्मरण करो। इस योग मार्ग पर अधिरूढ़ व्यक्ति का आगामी जन्म चाहे उसने इस मार्ग में जिस परिमाण में योग्यता प्राप्त की हो, निश्चित रूप से उसे मनुज-योनि दिलाता है।

१०. श्री सद्गुरुदेव द्वारा यदाकदा जब भी कही गई वाणी कभी मिथ्यात्व के दोष को प्राप्त करती ही नहीं है। उनके द्वारा जो भी वाणी, जिस समय भी कही गई, वह तो सत्य की सत्ता के दायरे में रहती ही।

११. अतएव, मैं अपने लिये कही गई उन सद्गुरुदेव की वाणी को तथा किसी भी अन्य व्यक्ति के लिए कही गई सद्गुरुदेव की वाणी को नमन करता हूँ। सद्गुरुदेव द्वारा उद्घोषित वाणी सदा ही सत्य है, वह कभी भी मिथ्या है ही नहीं। ★

मानव से

रचयिता—स्वामी श्री भोलेबाबा जी

हरिगीत छन्द

मानव ! तुझे नहि याद क्या ? तू ब्रह्म का ही अंश है ।
कुल गोत्र तेरा ब्रह्म है, सद्ब्रह्म तेरा वंश है ॥
चैतन्य है तू अज अमल है, सहज ही सुख राशि है ।
जन्मा नहीं, मरता नहीं, कूटस्थ है अविनाशि है ॥

निर्दोष है निःसंग है, बेरूप है बिनु ढंग है ।
तीनों शरीरों से रहित, साक्षी सदा बिनु अंग है ॥
शुद्ध शान्ति का भण्डार है, आत्मा परम आनन्द है ।
क्यों भूलता है आप को ? तुझ में न कोई द्वन्द्व है ॥

क्यों दीन है तू हो रहा ? क्यों हो रहा मन खिन्न है ।
क्यों हो रहा भयभीत, तू तो एक तत्त्व अभिन्न है ॥
कारण नहीं है शोक का, तू शुद्ध बुद्ध अजन्य है ।
क्या काम है रे मोह का, तू एक आत्म अनन्य है ॥

तू रो रहा है किस लिये ? आँसू बहाना छोड़ दे ।
चिन्ता चिता में मत जले, मन का जलाना छोड़ दे ॥
आलस्य में पड़ना तुझे प्यारे ! नहीं है सोहता ।
अज्ञान है अच्छा नहीं, क्यों व्यर्थ है तू मोहता ? ॥

तू आप अपनी याद कर, फिर आत्म को तू प्राप्त हो ।
ना जन्म ले मर भी नहीं, मत ताप से संतप्त हो ॥
जो आत्म सो परमात्म है, तू आत्म में संतृप्त हो ।
यह मुख्य तेरा काम है, मत देह में आसक्त हो ॥

तू अज अजर है अमर है, परिणाम तुझ में है नहीं ।
सच्चित् तथा आनन्दघन, आता न जाता है कहीं ॥
प्रज्ञान शाश्वत मुक्त, तुझ में रूप है नहि नाम है ।
कूटस्थ भूमा नित्य, पूरण काम है निष्काम है ॥

माया रची तू आप ही, है आप ही तू फँस गया ।
कैसा महा आश्चर्य है, तू भूल अपने को गया ॥
संसार-सागर डूब कर, गोते पड़ा है खा रहा ।
अज्ञान से भव सिन्धु में, बहता चला है जा रहा ॥

है सर्वव्यापक आत्म तू, सब विश्व में है भर रहा।
छोटा अविद्या से बना है, जन्म ले के मर रहा॥
माने स्वयं को देह तू, ममता अहंता कर रहा।
चिन्ता करे है दूसरों की, स्वयं ही है डर रहा॥

कर्त्ता बना भोक्ता बना, ज्ञाता प्रमाता बन गया।
दलदल शुभाशुभ कर्म में, निस्संग भी तू फँस गया॥
करता किसी से राग है, माने किसी से द्वेष है।
इच्छा करे भागा फिरे तू, देश और विदेश है॥

है डाल लीन्ही पैर में, जंजीर लाखों कामना।
रोवे तथा चिल्लाय है, जब कष्ट का हो सामना॥
धन चाहता, सुत, दार, नाना भोग है तू चाहता।
अंधे कुएँ में कर्म के गिर, कष्ट नाना पावता॥

माया नटी के जाल में फँस, हो गया कंगाल तू।
दर-दर फिरे है भटकता, जग सेठ मालामाल तू॥
तू कर्म बेड़ी में बँधा, जन्मे पुनः मर जाय है।
ऊँचा चढ़े है स्वर्ग में, फिर नरक में गिर जाय है॥

मजबूत अपने जाल में, माया तुझे है बाँधती।
दे जन्म तुझको मारती, गर्भाग्नि में फिर राँधती॥
चिन्ता क्षुधा भय शोकमय, रातें तुझे दिखलावती।
भव के भयानक मार्ग में, बहु भाँति है भटकावती॥

संसार दलदल माँहि है, माया तुझे धसकावती।
तू जानता ऊँचा चढ़े, नीचे लिये है जावती॥
ज्ञानाग्नि होली बाल के, माया जली को दे जला।
ज्ञानाग्नि से जाले बिना, टलती नहीं है यह बला॥

यह ज्ञान ही केवल तुझे, सुख मुक्ति का दातार है।
ना ज्ञान बिन सौ कल्प में भी, छूटता संसार है॥
सब वृत्तियों को रोक कर, तू चित्त को एकाग्र कर।
कर शान्त सारी वृत्तियाँ, निज आत्म का नित ध्यान कर॥

कर चित्त पूर्ण निरुद्ध ही, तब तू समाधी पायगा।
जब तक न होगा चित्त थिर, नहि मोह तब तक जायगा॥
जब मोह होगा दूर, तब तू आत्म को लख पायगा।
अब होय दर्शन आत्म का, कृतकृत्य तू हो जायगा॥

मन कर्म वाणी से, तथा जो शुद्ध पावन होय है।
अधिकारि सो ही योग का, है आत्म पाता सोय है॥
हो तू सदाचारी सदा, मन इन्द्रियों को जीत रे।
ना स्वप्न में भी दूसरों की, तू बुराई चीत रे॥　　(क्रमशः)

तन्त्र में मन

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
बिहार योग विद्यालय, शिवानन्दाश्रम,
मुंगेर (बिहार)

मेरा प्रयोजन आपको केवल सम्प्रदायों का प्रवचन देना नहीं, मैं आज आपसे आध्यात्मिक जीवन के रहस्यात्मक विषय पर चर्चा करना चाहता हूँ। मनुष्य के जीवन के पीछे एक बहुत बड़ा रहस्य छिपा है। ज्ञानी महापुरुषों ने इसे समझाने का प्रयत्न किया है, किन्तु हम इसे अब तक नहीं समझ पाये हैं। पिछली कुछ पीढ़ियों से मानव जागरूक हो गया है और वह मानने को तैयार हो गया है कि मनुष्य के जीवन के पीछे निश्चित ही कुछ गूढ़ रहस्य है। ये विचार कहाँ से आये? यह चेतना कहाँ से आयी? यह क्या है? ऐसे ही हजारों प्रश्न हैं जिनका उत्तर मनुष्य आज तक नहीं खोज पाया है। हम इस पर चर्चा कर सकते हैं, इन्हें भाषा द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं मगर ख्याल रखिये यह रहस्यात्मकता ज्ञान का विषय नहीं वरन् यह अनुभव का विषय है। हम अनुभवी ज्ञानियों द्वारा प्रकाश डालते समय उनके अनुभवों को बौद्धिक रूप में परिभाषित कर सकते हैं मगर उन परिभाषाओं को जान लेने से ही हमें वह अनुभूति नहीं हो सकती।

जब हम अनुभूति की बात करते हैं तो हमें पूर्णतः भिन्न मार्ग को अपनाना पड़ेगा। अनुभूति बुद्धि से निर्मित नहीं होती, यह मन से ऊपर उड़ान भरने के अभ्यास से प्राप्त होती है। ज्ञान को बुद्धि द्वारा परखा जा सकता है, समझाया जा सकता है तथा बुद्धि के माध्यम से इसका आदान-प्रदान भी हो सकता है। लेकिन अनुभूति मन के परे का विषय है, यह बुद्धि व भावना के परे का विषय है। ज्ञान को परिष्कृत किया जा सकता है मगर अनुभूति को नहीं। यह अनुभूति होती कैसी है? क्या हम इसे वसीयत रूप में प्राप्त कर सकते हैं या इसका हस्तान्तरण कर सकते हैं? क्या अनुभूतियों को समझाया या समझा जा सकता है? क्या अनुभूति कोई ऐसी प्रक्रिया का परिणाम है जिसमें आप देश-काल के आवरणों को हटाते हैं?

अनुभूति के प्राप्ति के दो मार्ग बतलाये गये हैं—एक है वैदिक मार्ग और दूसरा है तन्त्र मार्ग। हमने वैदिक मार्ग के बारे में बहुत सुना है, अब उस रहस्यमय खजाने की खोज में तन्त्र के विषय में हमें प्रकाश डालना है। जैसे ही मैं तन्त्र शब्द का प्रयोग करता हूँ, आपके मस्तिष्क में एक चित्र उभर आता है या हो सकता है कि आपने तन्त्र के विषय में कोई विशिष्ट चित्र अपने मस्तिष्क में बनाया हो। आपका इस विषय में कोई भी मत हो, कृपया उसे भूल जाइये क्योंकि मैं इस अमूल्य समय को तन्त्र में क्या होता है यह बताने में व्यर्थ गंवाना नहीं चाहता और

यह मेरी आदत भी नहीं। तन्त्र वास्तव में क्या है, मैं यही बताऊँगा, आप अपने मन में स्वयं सुधार कर लेना।

तन्त्र का अर्थ चेतना का विकास व शक्ति का निर्मुक्तिकरण है। कई पुस्तकें कहती हैं-तन्त्र जादुई विद्या का नाम है। कोई कह सकता है तन्त्र सहवास के मार्ग से समाधि देने वाला मार्ग है। कई पुस्तकें कहती हैं—तन्त्र आध्यात्मिक जीवन की गुप्त साधनाओं का मार्ग है। हो सकता है कि ये सच हों या ये गलत भी हो सकता है। मगर मैं तन्त्र का व्याकरण, व्युत्पत्ति तथा दार्शनिक व परम्परागत अर्थ बतला रहा है जिस विधि से आप अपनी व्यक्तिगत चेतना का विकास कर सकते हैं। यह तन्त्र का एक पहलू है। हमारी चेतना एक दायरे में सीमित होती है। मन उसीके अन्तर्गत कार्य करता है और मन की क्रिया-प्रतिक्रिया का इन्द्रियों से सम्बन्ध होता होता है। आप उतनी ही दूर की ध्वनि सुन सकते हैं जहाँ तक कि आपका ध्वनि-यन्त्र स्वर पकड़ सकता है। आप उतनी ही दूर तक देख सकते हैं जहाँ तक कि आपकी नेत्र-प्रणाली की योग्यता होगी, यह व्यक्तिगत चेतना की सीमा है। वातावरण में परिव्याप्त लहरोंमें ध्वनि-तरंगें हैं, क्या आप उन्हें सुन सकते हैं और देख सकते हैं? निश्चित ही हम उन्हें न सुन सकते हैं और न देख सकते हैं। इससे प्रमाणित होता है कि हमारा मन एक सीमित दायरे में काम करता है, कोई अवरोध है बीच में। हमें इस अवरोध को तोड़ना है ताकि मन असीमित हो जाए, वह असीमित शक्तियाँ प्राप्त कर सके, लेकिन मन प्राप्ति पर निर्भर करता है, स्वतन्त्र नहीं है। यदि इन्द्रिय-मार्ग सूचना न भेज सकें तो मन अपंग हो जाता है। यदि तुम्हारा निर्णय, तुम्हारा तर्क, तुम्हारा गणित आवश्यक सूचना भेजने में असफल हो जाय तो तुम्हारा मन भी असफल हो जायेगा, मन की यह अवस्था उसकी सीमा है। यदि आप मन के इस स्तर में परिवर्तन करना चाहते हैं तो आपको इसके विकास का मार्ग चुनना होगा और वह है तन्त्र-मार्ग।

मन के विकास की कुछ विधियाँ हैं। एक है जिसमें आप मन को पृथक कर लेते हैं और दूसरी है जिससे आप मन को शान्त करते हैं। यह दूसरी विधि है तान्त्रिक विधि। प्रथम विधि है मन्त्र के विज्ञापन की। यदि आप आत्म-साक्षात्कार चाहते हैं तो आपको इसी मन्त्र के मार्ग से चलना प्रारम्भ कर देना चाहिये। यह मन्त्र इस मार्ग की प्रथम सीढ़ी है। आप मन्त्र का अभ्यास करते हैं तो इसका यह मतलब नहीं कि आप किसी विशिष्ट देवता का नाम ले रहे हैं। मन्त्रों में एक तरंग प्रवाहित होती है जो मन की आन्तरिक शुद्धि करती है। यदि आप अर्थ जाने बिना भी मन्त्र का अभ्यास करेंगे तो भी ध्वनि-तरंग आपके स्थूल शरीर से आन्तरिक सूक्ष्म शरीरों का भेदन करती है।

जब आप मन्त्र को दोहराते हैं तो तरंगें उत्पन्न होती हैं वे कभी प्रतिध्वनित होती हैं व कभी ताल-बद्ध होती हैं। ये तरंगें केवल वातावरण को ही प्रभावित नहीं करतीं बल्कि सम्पूर्ण आन्तरिक व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं। ये मंत्र या ध्वनियाँ केवल आवाज नहीं, ये विद्युत-तरंगें हैं जो अपने साथ शक्ति को भी प्रभावित करती हैं। जैसे यदि ॐ का उच्चारण करते हैं तो जो ॐ की ध्वनि है उसे आपकी चेतना केवल "ॐ" के रूप में ग्रहण नहीं करती, वह ॐ ध्वनि एक विशिष्ट रूप धारण करती है। मन के गहरे तल में इस विशिष्ट ॐ का एक विशिष्ट आकार

बनता है। इसलिए ॐ को केवल एक ध्वनि या ईश्वर का नाम समझ लेना पर्याप्त नहीं, यह रेखाओं के रूप में त्रिकोण या चौकोर आकार धारण कर सकता है जिसे हम योग की भाषा में यन्त्र कहते हैं। ये यन्त्र लाखों-करोड़ों प्रकार के हो सकते हैं। प्रत्येक ध्वनि यन्त्र-रूप में होती है। आपने देखा होगा—त्रिकोण, चौकोर व वृत्त से मिलकर बने हुए चित्र ही यन्त्र कहलाते हैं। ये यंत्र कोई काल्पनिक या अनुमानित नहीं होते, ये चेतना की एक विशिष्ट स्थिति के द्योतक होते हैं। यंत्र मन्त्र का आदि रूप है।

कई बार लोग मुझसे पूछते हैं ॐ है क्या? यह आपकी चेतना का परिणाम है। कोई भी स्वर या स्वरूप जब आपकी चेतना या मन के तल में पहुँचता है तो वहाँ उसका एक विशिष्ट स्वरूप बनता है। मैं आप लोगों से बात कर रहा हूँ, मेरे शब्द आपके मस्तिष्क में पहुँच रहे हैं। क्या आप जानते हैं कि वे किस विशेष रूप में वहाँ पहुँच रहे हैं? वे सब मस्तिष्क द्वारा ग्रहण किये जा रहे हैं और उनका विश्लेषण हो रहा है। यह सब विशेष रूप से तथा रेखांकित चित्रों के रूप में ही हो रहा है। इसी प्रकार आप जो कल्पनाएँ करते हैं उनका भी आकार बनता है और इसीलिए मन्त्र को सूक्ष्म यन्त्र-रूप कहा है। आप जो मन्त्र का उच्चारण करते हैं उससे आपके अन्तर्जगत में शक्ति-संचय होता है, यही सबसे महत्वपूर्ण तथ्य है। मन्त्र चित्त एकाग्र करने का साधन-मात्र नहीं है। मन्त्र का प्रयोजन आपको चित्त एकाग्र करने में सहयोग देना ही नहीं बल्कि मन्त्र द्वारा आपके अन्दर एक शक्ति-तरंग उत्पन्न होती है जो आपके शरीर, मन व आत्मा को आलोकित करती है। इसीलिए जब आप मंत्र का अभ्यास करते हैं तो मन बन्दर की तरह उछल-कूद करता है लेकिन तब भी आपको उससे सौ प्रतिशत लाभ होता है।

एक बार मैंने अपने गुरु से कहा कि आपका दिया गया मन्त्र मेरे काम का नहीं क्योंकि मेरा मन बन्दर की तरह उछल-कूद करता रहता है। मैं उन दिनों बड़ा ही नास्तिक व अहंकारी प्रकृति का व्यक्ति था। मैं सोचता था—जब मन्त्र में मुझे विश्वास नहीं तो उसको दोहराने में क्या लाभ? गुरु जी ने मुझे बड़ी ही अच्छी सलाह दी। उन्होंने कहा—तुम ऐसे कितने ही काम करते हो जिनका तुम्हारे जीवन से कोई ताल्लुक नहीं, वैसे ही मंत्र को पाँच मिनट के लिए करते रहो। मैं उसी आदेशानुसार बरसों तक मन्त्र को नियमित रूप से दोहराता रहा और यह भी बतलाता हूँ कि पूर्ण अविश्वास के साथ दोहराता रहा और मैं अब तक मन्त्र दोहराता रहा हूँ। मुझे माला की जरूरत नहीं क्योंकि मैं मानसिक शान्ति के लिए मन्त्र नहीं बोल रहा हूँ। मैं केवल गुरु के आदेशानुसार दोहरा रहा हूँ। यह अभ्यास मेरे आन्तरिक व्यक्तित्व पर प्रभाव डालता रहा है। मन्त्र में केवल यही एक अभ्यास ऐसा है जिसमें चित्त को एकाग्र करने की आवश्यकता नहीं।

सभी लोग उस रहस्यमय अज्ञात की खोज करना चाहते हैं मगर बारम्बार उस रहस्य के पर्दे पर अनजाने ही रंग चढ़ाते जा रहे हैं। इस प्रकार सत्य के ऊपर पड़ा पर्दा खुलने के बदले और मोटा होता जा रहा है। जब वे ध्यान के लिए बैठते हैं और कोई विचार उठता है तो वे उसे तुरन्त दबा देते हैं। मन्त्र एवं ध्यान के अभ्यास के समय हमारे मन में चिन्ता, क्रोध, ईर्ष्या, वासना के विभिन्न विचार उठते रहते हैं। आप इन

विचारों के साथ क्या करते हैं, मन की इन तरंगों के साथ आप कैसा व्यवहार करते हैं आप उनके साथ समझौता नहीं करना चाहते, अतः उन्हें नजरअन्दाज कर देते हैं। इस प्रकार अपनी समस्याओं को दुविधा में छोड़ देते हैं किन्तु वे विचार मौका मिलते ही फिर उठने लगते हैं। यह तन्त्र की विधि नहीं है। तान्त्रिक विधि के अनुसार अगर कोई विचार उठता है तो उसे देखो और सदा के लिए समाप्त कर दो। अब यदि आप अपनी इन्द्रियों का दमन करके मन को बाह्य विषय-वस्तु से विमुख करें ताकि आपका मन बाह्य विषय वासनाओं से उत्तेजित न हो तो यह ठीक है परन्तु आन्तरिक जगत का क्या होगा? मन को लकवा तो नहीं लगा है, वह आन्तरिक संस्कारों की गठरी है। उसमें हजारों स्मृतियाँ हैं, प्रतिबिम्ब हैं, इनसे आप कैसे निपटेंगे? किस-किस को आप नजर-अन्दाज करेंगे और कब तक? शरीर में ही तो दर्द होगा। इस प्रकार हम अपने मन का दमन कर उसकी समस्या को और बढ़ा देते हैं। आपका धार्मिक मन कहता है—यह गलत है, यह ठीक है। ये आपके दो चेहरे हैं। यह आन्तरिक द्वन्द्व आपको सिजोफेनिक बना देता है। मैंने इसे पन्द्रह वर्ष की उमर में समझ लिया और तभी से मन्दिर जाना छोड़ दिया, गीता-बाइबिल आदि धार्मिक पुस्तकें पढ़ना छोड़ दिया क्योंकि मुझे डर था कि मैं कहीं अपने व्यक्तित्व को भंग न कर दूँ। मैंने सोच लिया—मैं जैसा सोच सकता हूँ, वैसा ही सोचूँगा, मैं अपना विरोध नहीं करूँगा और न अपने से घृणा करूँगा। यदि मेरे मन में विचार उठते हैं तो मैं उन्हें स्वीकार करूँगा। मैं उन्हें दबाना नहीं चाहता, मैं उन्हें देखना चाहता हूँ, वे मेरे व्यक्तित्व का एक अङ्ग हैं। मेरे समाज, परिवार, माता-पिता व धर्म से मुझे मिले हैं, वे मेरे स्वरूप हैं और वही मैं हूँ। मैं अपनी हत्या नहीं करना चाहता।

यह योग का विज्ञान है। यदि आप योग या ध्यान का अभ्यास कर रहे हैं तो याद रखें कि आप अपने मन को विश्वास में ले रहे हैं। आप अपने मन को एकाग्र करना चाहते हैं मुझे कोई एतराज नहीं किन्तु आपका मन अपने आपको निराशा के रूप में प्रकट करना चाहता है तो आपको उसका सामना करने की विधि को जान लेना चाहिये। अतः जब आप मन्त्र का अभ्यास करते हैं तो अपने साथ लड़ना छोड़ दीजिये।

मन को देखते जाइये। कभी-कभी यह भूतकाल की घटनाओं में खो जायेगा, कभी-कभी भविष्य की कल्पनाओं में रहेगा। लेकिन यदि आप मन को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दें तो आपकी जानकारी के बिना भी एक दिन यह लौटकर चुपचाप शान्त हो जायेगा। अनुभूति का मार्ग लम्बा नहीं, यह किसी भी क्षण हो सकती है। यह अभी भी आपके अन्दर है, यह ज्योति आन्तरिक है, सतत है, हमें उसकी अनुभूति इसलिए नहीं होती क्योंकि हम सीमा में आबद्ध हैं। आप अपने मन को स्वतन्त्र उड़ान भरने दें, उसे जहाँ चाहे, जैसा चाहे भटकने दीजिये (मन के अन्दर में) उसे अपनी खोज स्वयं करने दीजिये। चिन्ता न करें, न ही खुश हों, केवल देखते जायें।

(क्रमशः)

पतञ्जलि एवम् चरक के अनुसार योग का स्वरूप

(पृष्ठ ८ का शेष)

(१) अपने चित्त को दूसरे के शरीर में प्रविष्ट करना—योग-दर्शन में महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

बन्धन के कारण को शिथिल करने से तथा चित्त के शरीरगत नाड़ियों में आवागमन को जान लेने से योगी अपने चित्त को दूसरे के शरीर में प्रविष्ट कर देता है। यद्यपि पुरुष व्यापक और चित्त चञ्चल है। अतः इन दोनों का भोक्तृभोग्य रूप से एक शरीर में परतन्त्र होकर रहना असम्भव है तथापि इन दोनों का यह भोक्तृभोग्य भाव सम्बन्ध धर्माधर्मरूप अविद्या प्रयुक्त ही है। अतएव धर्माधर्म को बन्धन का कारण कहा गया है। जब तक इनमें बन्धन करने की शक्ति विद्यमान रहती है तब तक पुरुष और चित्त स्वतन्त्र होकर अन्यत्र गमन करने में असमर्थ रहते हैं। जब योगी यथोक्त धर्माधर्म विषयक संयम द्वारा इन दोनों को शिथिल कर देता है अर्थात् धर्म-अधर्म में जब पुरुष को बाँधने की शक्ति है उसको निवृत्त कर देते हैं तब प्रतिबन्धक का अभाव होने से ये दोनों—पुरुष और चित्त स्वतन्त्रतापूर्वक जीवित वर्तमान शरीर से निकलकर अन्य शरीरों में प्रविष्ट होने में समर्थ हो जाते हैं। परन्तु इतनी सामर्थ्य प्राप्त होने पर भी जब तक यह बात न हो कि कौन-सी नाड़ी चित्त बहा है तब तक शरीर में चित्त का प्रवेश असम्भव है। अतः नाड़ी संयम द्वारा चित्त के प्रचार वाली सम्बन्धित नाड़ी का परिज्ञान भी सूत्रकार ने बन्धन के कारण की शिथिलता के साथ नाड़ी संयम द्वारा प्रचार संवेदन रूप चित्त के गमनागमन के मार्गों का ज्ञान अन्य शरीर में प्रवेश के लिए आवश्यक माना है। अतः धर्माधर्मजन्य अदृष्ट संयम और नाड़ी संयम दोनों मिलकर ही परकाय प्रवेश में हेतु दोनों में से कोई एक कभी नहीं यह सिद्ध हुआ।

(२) सब ज्ञेय विषयों का यथार्थ ज्ञान—चरक द्वारा मान्य इस सिद्धि अन्तर्भाव योगोक्त विवेकज ज्ञानरूप तारक सिद्धि में हो जाता है। तारक का वर्णन करते हुए भाष्यकार व्यास लिखते हैं—

बिना उपदेश के अपनी प्रतिभा रूप अनुभव से उत्पन्न ज्ञान संसार सागर से तारने वाला होने से तारक कहलाता है। वह ज्ञान सब पदार्थों को विषय करने वाला होने से इस विवेकजन्य ज्ञान का कोई भी पदार्थ अविषयीभूत नहीं है—यह अर्थ हुआ अर्थात् ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो इस विवेकज ज्ञान को जान आवे—इस ज्ञान से भूत भविष्यत और वर्तमान के सब पदार्थों को योगी जानता है—यह अर्थ है—एक ही क्षण में बुद्धिवृत्ति में उपारूढ़ सब पदार्थों को योगी जान लेता है—यह अर्थ हुआ। यह विवेकज ज्ञान परिपूर्ण ज्ञान कहा जाता है। सम्प्रज्ञात योग भी इसी ज्ञान का एक अंश है और मधुमती भूमि नामक ऋतम्भरा प्रज्ञा से प्रारम्भ करके सप्तविध प्रान्त भूमि प्रज्ञा नामक अविप्लवा विवेक ख्याति तक इसकी परिसमाप्ति है। भाष्यकारोक्त इस तारक ज्ञान में सब अर्थों का ही नहीं अपितु तीन कालों में वर्तमान सब अर्थों का ज्ञान युगपत् हो जाने को मानता है जो चरकोक्त अर्थज्ञान की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत क्षेत्र वाली है।

(३) कर्म करने की अबाध शक्ति—चरक ने जिसको छन्दतः क्रिया अथवा स्वच्छन्दतापूर्वक कार्य करने की शक्ति माना है उसीको योग में वशित्व अथवा प्रधानजय कहते हैं। इस प्रधानजय के साथ-साथ योगी को मधु प्रतीका सिद्धियों की साधना करते-करते पूर्व मुक्त हुए सिद्ध पुरुषों की भाँति मन के समान विलक्षण गति तथा बिना इन्द्रियों की सहायता के योगज प्रत्यक्ष की भी योग्यता प्राप्त हो जाती है। यह पाँचों इन्द्रियों के ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्व—इन पाँच रूपों में संयम के फलस्वरूप होता है—व्यास भाष्य में इन सिद्धियों की चर्चा करते हुए कहा गया है—

शरीर को अनुत्तम गति मनोजवित्व नामक सिद्धि कही जाती है। अर्थात् शरीर में भी मन के सदृश असंख्य योजन दूर तथा व्यवहित देश में शीघ्र गमन करने की शक्ति प्राप्त होना मनोजवित्व नामक सिद्धि कही जाती है। यह सिद्धि शरीर निष्ठ है। विदेह इन्द्रियों का जो अभिलषित हिमालय शिखर आदि देश निकटतम काल तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म विषय में शरीर की अपेक्षा बिना वृत्ति का प्राप्त होना विकरण भाव नामक सिद्धि है। अर्थात् जिस काल में जिस भी देश तथा विषय को प्राप्त करने की योगी की इच्छा होती है उसमें देह की अपेक्षा के बिना ही इन्द्रियों की गति हो जाती है जिससे काशी आदि देश में बैठा हुआ भी योगी प्रयागराजादि देश में स्थित पुरुषों अथवा घट रही घटनाओं का प्रत्यक्ष वर्णन कर सकता है। इसीको विकरणभाव नामक सिद्धि कहते हैं। क्योंकि विकरण भाव का अर्थ है इन्द्रियों को शरीर निरपेक्ष विकीर्णात्मक व्यापकता। यह सिद्धि इन्द्रियनिष्ठ है। निखिल कारण तथा कार्य को वश कर लेना प्रधानजय नामक सिद्धि कही जाती है अर्थात् संसार में जितने कारण कार्यात्मक पदार्थ हैं वे सब प्रधानजय नामक सिद्धि प्राप्त होने पर योगी के अधीन होकर अनुकूल हो जाते हैं और योगी जो चाहे सो कर सकता है अर्थात् योगी स्वच्छन्दता पूर्वक सब कार्य कर सकता है। ये तीनों सिद्धियाँ मधुप्रतीका कहलाती हैं।

(४) दिव्य दृष्टि—दिव्य दृष्टि का भी योगदर्शन में वैज्ञानिक एवम् विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। दिव्य दृष्टि के प्रसङ्ग में वृत्तिकार भोज लिखते हैं—

दिव्य विषयों का अनुभव करने वाली चित्त की ज्योतिष्मती नाम की प्रवृत्ति है जो पहले कही गई है उस ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का जो आलोक अर्थात सत्वगुण बहुल प्रकाश है उस प्रकाश को सब अभीष्ट ज्ञेय विषयों के साथ जोड़ने से, उस प्रकाश से युक्त विषयों में संयम का प्रयोग करने से अन्तःकरण और इन्द्रियों में अत्यधिक शक्ति भर जाने से योगी को अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु आदि का, पृथिवी के गर्भ में छिपे हुए खनिज पदार्थों के निधान आदि का तथा दूर देशवर्ती सुमेरु पर्वत के दूसरी ओर विद्यमान औषधादि का ज्ञान उत्पन्न होता है।

(५) दिव्य श्रवण-शक्ति—दूर देश में वर्तमान अथवा गुह्य देश में स्थित या अति सूक्ष्म शब्दों को सुन सकने की शक्ति को दिव्य श्रवण शक्ति कहते हैं। योगदर्शन की मान्यता के अनुसार शब्द नित्य होने से नष्ट होकर आकाश में वर्तमान रहते हैं अतः आकाश और कान के सम्बन्ध में संयम करने वाला योगी दिव्य शब्दों को सुनने की शक्ति को प्राप्त कर सकता है। आचार्य व्यास के अनुसार—

इस दिव्य दृष्टि के संयम का विषय जो श्रोत्राकाश का आधार धेय सम्बन्ध है उसका प्रतिपादन करते हुए भाष्यकार कहते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय का आधार आकाश है जैसा कि महर्षि पञ्चशिखाचार्य ने भी कहा है—आकाश तुल्य कालवर्ती सब पुरुषों के श्रोत्र का आधार है। कार्णविवरवर्ती आकाश ही श्रोत्र नहीं अपितु एक जातीय शब्द का अव्यक्त श्रोत्रेन्द्रिय जिसके आश्रित है—वही आकाश कहा जाता है। जैसे धूम से वह्नि का अनुमान होने से धूम वह्नि का अनुमापक है वैसे ही श्रोत्रेन्द्रिय से आकाश का अनुमान होने के कारण श्रोत्रेन्द्रिय आकाश का लिंग है। जैसे शब्द का आश्रय आकाश के अतिरिक्त अन्य पृथिव्यादि नहीं हो सकते। वैसे ही श्रोत्रेन्द्रिय का आश्रय भी आकाश के अतिरिक्त अन्य पृथिव्यादि नहीं हो सकते। अतः श्रोत्रेन्द्रिय का आश्रय आकाश ही है। तथा अवकाश को भी पूर्वाचार्यों ने आकाश के सद्भाव में प्रमाण कहा है। यदि आकाश की व्यापकता अन्य पदार्थों में न स्वीकार की जाए तो अग्नि में प्रवेश से स्थाल्यादि पात्रों तथा जलादि की उष्णता नहीं होनी चाहिए अतः अनावरण को अभावरूप मानने पर भी उसका आश्रय होने के कारण आकाश का होना स्वीकार करना चाहिये।

इस प्रकार अनावरण आकाश के लिंग सिद्ध होने पर तथा अनावरण की सर्वत्र विद्यमानता दीखने पर आकाश को सर्वगत मानना पड़ता है। वस्तुतः अमूर्तरूप आकाश की सर्वत्र व्यापकता प्रसिद्ध भी है। बहरे स्वस्थ श्रोत्रों वाले पुरुषों में एक शब्द को सुनता है दूसरा नहीं इसलिए शब्द कानों का ही विषय है। श्रोत्र और आकाश के इस सम्बन्ध में संयम करने वाले योगी को दिव्य श्रोत्र की उपलब्धि होती है। जैसे श्रोत्र और आकाश के उक्त सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य स्पर्शन शक्ति की, चक्षु तथा रूप के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्यदर्शन की, जल तथा रसना के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्यरसना की तथा पृथिवी और घ्राण के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य घ्राण शक्ति की उपलब्धि होती है—यह भी जानना चाहिए। (क्रमशः)

साधक से—

★ मृत्तिका के काले घट में ही बन्द होकर आत्मा विकसित होती है।

★ पवन-पुष्प पुण्डी में बन्द होकर ही सुवासित होता है।

निर्गन्ध, मद-मृग की नाभि में रहकर ही कस्तूरी बनता है।

★ नक्षत्र परिधि पर घूमकर ही अपने लक्ष्य की ओर गतिमान् होते हैं।

★ सरस छन्दों में बँधकर ही कवि आनन्द उन्मुक्त होता है।

★ फिर हे साधक ! तू यम-नियम की कैद से क्यों घबराता है ?

—सुश्री दिनेशनन्दिनी डालमिया

★ परतन्त्रता दुःखों की जननी है ★

मुक्ति पाना (जन्म-मरण से छुटकारा) ही सच्चा सुख है

श्री नारायणदत्त शास्त्री (से० नि० आ० वि० अ०)

सालवन (करनाल)

एक राजा गुरु गोरक्षनाथ का परम भक्त दयावान और ज्ञानी शिष्य था। वह नित्यप्रति गुरु दर्शनों को जाया करता था। उसीके नगर में एक बहेलिया रहता था, जिसका व्यापार तोतों को पकड़कर बेचना रहता था। एक दिन उस बहेलिये के हाथ जावन्त तोते का बच्चा लग गया। वह उस बच्चे को ऊँची कीमत पर बेचना चाहता था परन्तु अज्ञानता होने के कारण किसी ने उसकी बात पर विश्वास नहीं किया। तब हारकर उस तोते के बच्चे को लेकर राजा के पास राज दरबार में गया। और हाथ जोड़कर प्रणाम कर राजा से बोला—महाराज यह जावन्त तोता है दो महीने बाद यह मनुष्य की वाणी समझने तथा बोलने लगेगा। राजा को धन की तो चिन्ता थी ही नहीं, राजा ने बहेलिये को मनचाही कीमत देकर तोते का बच्चा खरीद लिया। उसके पश्चात् वह उस बहेलिये से बोला—तुम यह कार्य छोड़ दो तो मैं तुम्हें तुम्हारे गुजारे लायक खेती के लिये भूमि मुफ्त दे सकता हूँ। तुम मेरा कहना मान जाओ तो इस पाप कर्म से मुक्त हो जाओगे। बहेलिये ने राजा की बात मानकर खेती-बाड़ी करना शुरू करदी। सचमुच वह तोता दो मास पश्चात् मनुष्य की भाषा समझने और बोलने लगा।

एक दिन जब राजा गुरु-दर्शन को जा रहे थे। तब तोता बोला—राजन् ! आप नित्य सुबह-सुबह कहाँ जाते हैं। राजा बोला —मैं नित्य गुरु-दर्शनों को जाता हूँ वह बड़े ज्ञानी गुरु हैं उन्हीं का मैं शिष्य हूँ। तोता बोला—राजन् ! गुरुजी से पूछना कि मुक्ति का क्या मार्ग है ? राजा अपने तोते की बात अपने हृदय में रखकर गोरक्षनाथ गुरु के निकट जा पहुँचा और ज्ञान चर्चा सुनने के पश्चात गोरक्षनाथ गुरु से हाथ जोड़कर बोला—महाराज ! मुक्ति का मार्ग क्या है ? इतना सुनते ही गोरक्षनाथ जी महाराज शव आसन लगाकर पृथ्वी पर लेट गए, मानो थककर घोर निद्रा में सो गये हों। जब राजा को प्रश्न का कोई उत्तर न मिला तो वह लौट आया और अपने तोते से सब वार्ता ज्यों की त्यों कहकर बतलाई कि गुरुजी बहुत थके होने के कारण सो गये बोले कुछ नहीं।

दूसरे दिन तोते ने शव आसन लगाकर पिंजड़े के झूले पर से पिंजड़े के फर्श पर आँखें बन्दकर वह बिना हिले-डुले लेट गया। राजा के सेवक ने तोते को मरा जानकर राजा की

आज्ञा से उसे पिंजड़े से बाहर निकाल कर फेंकने की तैयारी की, तभी वह तोता यह कहता हुआ उड़ गया कि गोरक्षनाथ गुरु का बतलाया गया रास्ता बिल्कुल सही निकला, देखो मैं मुक्त हो गया। राजा ने तोते की बात को भली प्रकार समझा। अगर आपको मुक्ति पाना है तो संसार रूपी इस पिंजड़े में इसी प्रकार रहना चाहिए जब चाहो तोते की तरह उड़ सको। विवशता के कारण (क्रोध, लोभ, मान-मर्यादा और वासना) से जीवन तनावमय बन जाता है। सही शान्ति का इन्हीं कारणों से अभाव हो जाता है। इसीका नाम परतन्त्रता है और यही परतन्त्रता दुःखों की जननी है। जन्म-मरण ही संसार सागर है जो आत्मा को शरीर रूपी पिंजड़े में आबद्ध किये हुए है।

जैसे पिंजड़ा दुःखों का बन्धन है ऐसे ही घर दुःखों की जड़ है। इससे छुटकारा पाना है तो उपरोक्त विवशताओं को तिलाञ्जलि देकर ही परम शाश्वत सुखों का शिव-मन्दिर प्राप्त किया जा सकता है। संसार में रहकर भी इसी प्रकार तनाव मुक्ति का अभ्यास करना पड़ता है। जैसे धाय माँ बच्चे का पालन-पोषण तो करती है पर उसे अपना पुत्र नहीं समझती। उसमें उसकी ममता व मोह का अभाव होता है। ऐसे ही आप इस संसार में रहो, कर्तव्यों का पालन करते रहो परन्तु ममता, मोह को त्याग कर।

हे गुरुदेव ! आप सत्य, अचल, त्रिगुणमयी और दिव्य गुणों के कारण स्तुति के योग्य हो। मैं आपके मोह विनाशक चरण कमलों में अधीर हो दिन-रात आपकी आराधना करता हूँ। हे दीनबन्धु ! मुझ गरीब के आप ही आधार हो।

★ यदि तुमने इसी जन्म में ईश्वर को जान लिया तब तो ठीक है अन्यथा महा-विनाश और हानि है। प्राणीमात्र में उसी ब्रह्म को जो पहचानते हैं वही बुद्धिमान् पुरुष इस शरीर को छोड़कर अमृतत्व प्राप्त करते हैं। (केनोपनिषद् २/५)

× × ×

★ जिसने दुराचरण को सदा के लिए नहीं छोड़ा, जिसकी इन्द्रियाँ और मन शान्त नहीं, वह मनुष्य केवल पुस्तक ज्ञान से प्रभु को प्राप्त नहीं कर सकता। (कठोपनिषद् १/२/२४)

× × ×

★ हम जिसे आत्मा कहते हैं वह आत्मा क्या है। जिससे देखते, सुनते, सूँघते और बोलते हैं, जिससे स्वादु और अस्वादु का ज्ञान करते हैं जिसके न रहने पर यह सब नहीं होता। (ऐतरेयोपनिषद् ३/१)

× × ×

★ जिस प्रकार रथ की नाभि में अरे रहते हैं, उसी प्रकार तुम्हारी समस्त शक्तियाँ उस सर्व शक्तिमान् में आश्रित हैं। (प्रश्न उपनिषद् ६/६)

पुत्र प्राप्ति के साधन

श्री दिनेश कुलश्रेष्ठ (एत्मादपुर)

(१) श्रद्धा-भक्ति के साथ पति-पत्नी को—दोनों को मन लगाकर 'श्री हरिवंश पुराण' मूल, अर्थ सहित श्रवण करना चाहिये। कथा वाचक पण्डित सात्विक प्रकृति के सदाचारी वयोवृद्ध तथा भगवान में एवं अनुष्ठान में विश्वास करने वाले होने चाहिये। उन्हें यथा शक्ति दक्षिणा तथा सम्मान देकर सन्तुष्ट करना चाहिये। एकबार में फल प्राप्त न हो तो तीनबार श्रवण करना चाहिये। पुराण-कथा श्रवण समाप्त होने पर द्वादशाक्षर (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) मन्त्र से दशांश हवन तथा विधि पूर्वक तर्पण-मार्जन करके ब्राह्मण भोजन कराना चाहिये।

(२) एक सन्तान-गोपाल मन्त्र है—

देवकी सुत गोविन्द, वासुदेव जगत्पते।
देहिमे तनयं कृष्ण, त्वामहं शरणं गतः॥

हो सके तो इस मन्त्र का जप श्रद्धा तथा विश्वास के साथ पति-पत्नी दोनों को करना चाहिए। प्रातःकाल स्नान करके पुरुष अपने सन्ध्या-वन्दनादि नित्य कर्म करने तथा स्त्री नियमित दैनिक जप-पाठ आदि करने के बाद तुलसी की माला से मन्त्र का जप करें। जप के समय सामने किसी सुन्दर चित्र पट कांच में मढ़ाया हुआ पवित्र धोयी चौकी पर या दीवाल पर श्रीकृष्ण का चित्र रखा होना चाहिये। भगवान के चित्रपट की चन्दन, फूल, धूप, दीप नैवेद्य, आचमन, पान, इलायची आदि के द्वारा पूजा करनी चाहिए। फिर कपूर से आरती करके पुष्प चढ़ाकर प्रणाम करना चाहिये। इस प्रकार पूजा करने के बाद भगवान से कातर प्रार्थना करनी चाहिये तथा यह दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि भगवान की कृपा से सत्पुत्र की प्राप्ति अवश्य होगी। प्रार्थना में यह भाव होना चाहिये कि हे प्रभो! आप दयामय हैं, हमें पुत्र देने की कृपा करें। आपका दिया हुआ वह पुत्र सद्भाव-सम्पन्न, सात्विक, सुन्दर, सच्चरित्र, सदाचारी दीर्घजीवी, मेधावी तथा आपका प्रिय भक्त हो। इस प्रार्थना के बाद तुलसी की माला से जप करने पर जप सिद्ध हो सकता है। क्योंकि इससे १,५०,००० जप तथा १५,०००

दशांश होम के लिये कुल १,६५,००० जप पूरे हो सकते हैं। पत्नी न कर सके तो पति को ही करना चाहिये। एक महीने के बाद प्रतिदिन यथा शक्य नियमित रूप से जप चालू रखना चाहिये। मन्त्र सिद्ध होने के बाद जब पत्नी रजस्वला हो, तब शास्त्रानुसार शुभ मुहूर्त में पुत्र-प्राप्ति के लिये कामभाव से नहीं युग्म तथा अनिन्दित एवं वर्जित रात्रि में आधान करना चाहिये।

'श्री रामचरित मानस' मन्त्रमय है। इसमें भी बहुत से सिद्ध प्रयोग हैं। निम्नलिखित दोहे द्वारा सम्पुटित करके सात या इक्कीस नवाह्न परायण करने से सद्गुणी पुत्र की प्राप्ति होती है। ऐसा कुछ सज्जनों का अनुभूत कथन है।

दोहा निम्नलिखित है—

दानि सिरोमनि कृपा निधि, नाथ कहउँ सति भाउ।
चाहउँ तुम्हहि समान सुत, प्रभु सन कवन दुराउ॥

अभ्यास की आवश्यकता

१. अभ्यास के द्वारा चित्त को शान्त करो, विषयों का चिन्तन करना मन को आहार प्रदान करना है। संकल्पपूर्वक पदार्थों का स्मरण करने से ही पतन हो जाता है।

२. किसी के सम्बन्ध में विचार या स्मरण करना उसका संग करना ही है। संग से वस्तु समीपता का रूप धारण कर लेती है तथा संग का त्याग करने से त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं।

३. चित्त में शुद्ध विचारों को भरो, शुभ विचारों के साथ मेल करो और उन्हीं के साथ जीवन बिताओ।

४. सारा अभ्यास मन से सम्बन्ध रखता है। भगवत्तत्त्व समझने के लिये मन का अभ्यास अपेक्षित है। केवल शारीरिक तप से कुछ नहीं होगा। शारीरिक तप से देह-बुद्धि नम होती है और शरीर की आसक्ति में भी शिथिलता आ जाती है। इस प्रकार का अभ्यास स्थूल चित्त वालों के लिये है।

५. वाणी का तप भी आवश्यक है। लोग प्रायः अभ्यास में वाणी की साधना भूल जाते हैं। मैं कहता हूँ केवल सत्य भाषण से ही आत्म साक्षात्कार हो सकता है। किन्तु सत्य में सरलता भी निहित है। सरलता सत्य से पृथक् नहीं।

सन्त-स्वभाव :—

एक सन्त कहीं घूमते हुए जा रहे थे। कहाँ जा रहे थे ? हमें इसका पता नहीं है। सन्त होते ही रमते राम हैं। एक स्थान पर टिककर उन्हें रहना नहीं आता। यह तो लोकोक्ति है–'बहता पानी और रमता सन्त ही निर्मल रहता है।'

एक वन में एक दुष्ट प्रकृति का मनुष्य रहता था। साधु-सन्तों से उसे चिढ़ थी। चिढ़ थी सो थी। दुष्ट का स्वभाव भी अकारण शत्रुता करना, सीधे लोगों को अकारण कष्ट देना होता है।

सन्त घूमते हुए उस वन में निकले। दुष्ट ने उन्हें देखा तो पत्थर उठाकर मारने दौड़ा–'तू इधर क्यों आया ? क्या धरा है तेरे बाप का यहाँ ?'

सन्त ने कहा–मैंने तुम्हारी कोई हानि नहीं की है। तुम क्यों अप्रसन्न होते हो ? तुम्हें मेरा इधर आना बुरा लगता है तो मैं लौट जाता हूं।

'तू आया ही क्यों ?' दुष्ट अपनी दुष्टता पर आ गया था। सन्त को उसने कई पत्थर मारे। सिर और दूसरे अङ्गों में चोटें लगीं। रक्त बहने लगा। लेकिन सन्त भी सन्त ही थे। बिना कुछ बोले लौट आये।

कुछ दिनों बाद फिर सन्त उसी ओर गये। उनका हृदय कहता था—'बेचारा पता नहीं किस कारण साधु के वेश से चिढ़ता है। साधुओं को कष्ट देकर तो वह नरकगामी होगा। उसको सद्‌बुद्धि मिलनी चाहिये। उसका उद्धार होना चाहिये।'

वह दुष्ट आज दीखा नहीं। सन्त उसकी झोंपड़ी के पास गये। वह तो खाट पर बेसुध पड़ा था। तीव्र ज्वर था उसे। जैसे अपना पुत्र ही बीमार पड़ा हो—सन्त उसके पास जा बैठे। उसकी सेवा-शुश्रूषा में लग गये।

उस दुष्ट के नेत्र खुले। उसने साधु को देखा। उसके मुख से कठिनाई से निकला—'आप ?'

सन्त ने उसे पुचकारा–'तुम पड़े रहो। चिन्ता की कोई बात नहीं है। और उससे कहा कि अगर अपने ही दांत से अपनी जीभ कट जाय तो कोई क्रोध किस पर करे ? तुम अलग हो और मैं अलग हूं, यही तो भ्रम है। एक ही विराट् पुरुष के हम सब अङ्ग हैं।'

SIDDHAYOGA Regd. No L. AG. 008.   NOVEMBER 1996

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक

उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER

Book-Post

श्री ....

....

....

....

दुष्ट मनुष्य की प्रवृत्ति

महापुरुषों के सामने सदा से यह समस्या रही है कि गुणवान पुरुषों में भी स्वभावतः दुष्ट लोग दोष निकालते रहते हैं, अतः दुष्टों का बहिष्कार ही करना चाहिये। इस मौलिक तथ्य को भारतीय मनीषियों ने एक सूक्ति के द्वारा सोदाहरण समझाया है :—

खलो मृगयते दोषान्, गुणपूर्णेऽपि वस्तुनि।
वने पुष्पलता कीर्णे, पुरीषमिव शूकरः॥

अर्थ—दुष्ट मनुष्य गुण पूर्ण वस्तु में भी दोषों को ही ढूंढा करता है, जैसे—फूलों और बेलों से भरे हुए वन में सूअर मल (विष्टा) को ही ढूंढा करता है।

प्रकाशक एवं मुद्रक—विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा से मुद्रित एवं श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (आगरा) से प्रकाशित। फोन : 330426